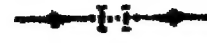
सूची.



बद्रीदास पुरोहित.

"धर्मरक्षक कार्यालय"

४१८ कालका देवीरोड.

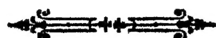
बंबई पो० नं० २.



गीता-उपदेशक श्रीकृष्ण.

श्रीहरिः ।

श्रीकृष्णस्तुत्यष्टकम् ।



हे विश्व स्वरूप ! विश्व स्थिति लय, हेतु तुमको हम नमें ।
विश्वेश ! हे गोविन्द ! तुमरे, लिये सादर जग नमें ॥
विज्ञानरूप रु परमआनंद–रूप गोपीनाथ हे ! ।
श्रीकृष्ण ! हे यादव शिरोमणि ! नमों नम सिर साथ है ॥१॥

हे कमल लोचन कमलमाली कमलनाभ कमलापते ! ।
हे मोरमुकुटसुधारि मेधाऽकुण्ठ राम रमापते ! ॥
योगीन्द्र ! तुम हो रमामानस हंस शिववंद्यहि नमो ।
हे कंशवंश विनाशिकेशी काल चारुण हर नमो ॥ २ ॥

हे पार्थसारथि ! वेणुनाद–विनोदक ! गोपाल हे ! ।
हे चलत कुण्डलधारि ! यमुना कूल सुन्दर केलि हे ! ॥
हे वल्लवी वदनांभोज सु नृत्तशाली हेलि हे ! ।
हे प्रणतपाल ! कृपालु ! यदुपति ! नमोनम वनमालि हे ! ॥३॥

हे पाप नाशक ! तृणावर्तहि पूतनातारक विभो ! ।
हे नाथ ! गोवर्धनउधारक ! नमोनम सादर प्रभो ! ॥
हे निष्कलङ्क विमोह शुद्ध अशुद्धवैरी जगगुरो ! ।
हे अद्वितीय महानमाधव ! नमोनम भय दुखहरो ॥ ४ ॥

हे परम आनंद रूप यादव ! प्रसन्न हो परमेश्वरं ! ।
उद्धार आधि रु व्याधिआहिसे कीजिये विश्वेश्वरं ! ॥
हे कृष्ण ! रुक्मिणीकान्त ! गोपीनाथ ! स्वजनमनोहरं ! ।
संसारसागर मग्नहूं मैं बचाओ भुवनेश्वरं ! ॥ ५ ॥

हे क्लेशहर्त्ता कृष्ण ! केशव ! जनार्दन ! नारायणं ! ।
गोविन्द ! परमानन्द माधव ! बचालो दुख दारुणं ॥
उद्धार मम संसार सागर बीचसे हरि कीजिये ।
मैं तरू संसृति दुःख इससे नाथ ! शरण सु लीजिये ॥ ६ ॥
योगेश ! हे श्रीकृष्ण ! व्रजपति ! परम पुरुषोत्तम ! हरे ! ।
हे परम रसमय परमधाम रु परमसुखकारी खरे ॥
हे सनातन परब्रह्म आत्मा परात्पर जगदीश हे ! ।
सर्वज्ञ हे श्रीकृष्ण तुमको नमोनम मम–ईश हे ! ॥ ७ ॥
हे जगत्साक्षी देव ! माधव ! शरण हूं मैं आपके ।
रक्षाकरो यदुनाथ ! श्रीपति ! हरो दुखभव--तापके ॥
मैं दीन हीन अयोग्य फिरभी विप्र हूं ब्रह्मण्य हे ! ।
गो विप्ररक्षक ! शरण "बदरी" लाज रख कारुण्य हे !॥८॥

सोरठा–

मेघवर्ण तनुश्याम, रमारमण ! करुणायतन ! ।
द्रवहु चतुर्भुज ! श्याम, शङ्ख गदा कज चक्रधर ! ॥
भक्तवत्सल यदुराय ! वासुदेव सर्वज्ञ प्रभो ! ।
करहु कृपा भ्रमजाय, श्रीनिवास हरि ज्ञानघन ॥
हर्षि देहु व्रजचन्द पदसरोज अनपायनी ।
भक्ति सदा सुखकन्द वारवार वरमांगु यह ॥
श्रीपति आनन्दकन्द कृष्णचन्द्र भगवान् हे ।
वसुदेव देवकीनन्द ! धर्म अर्थ सुख काम दो ॥

ॐ तत्सत् ।

समर्पण.

(१)

श्रीमान् योगीराज श्रीगुरु तत्त्ववित् " वनराज " हैं।
जग पूज्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ कृतात्मा महाराज हैं ॥
भूदेवका कुल पुष्टिकर शुभ गोत्र शाण्डिल्य हि रहा।
उनके लिये मैं भेट सादर करूं यह परिश्रम महा ॥

(२)

महाराजका हूं शिष्य बालक पढा बहुविध पाठको।
मैं प्रकट करना जरूरी यह समझता प्रिय पाठको ! ॥
" गुरुशिष्यका सम्बन्ध ऐसा सुदृढ और अकाट्य है।
होता न उनसे उऋण कोई शिष्य इस जग नाट्य है ॥"

(३)

आजन्म फिर वह विमुख होत न, शिष्यके सर्वस्व हैं।
गुरुदेव स्वामी और रक्षक अतः मम सर्वस्व है ॥
गुरुदेव-सेवामें " समर्पित " स्वयंही सब कृत अहा।
इससे समझना चाहिये यह ग्रंथ गुरुकी स्मृति रहा ॥

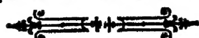
(४)

उपदेश दिग्दर्शन उन्होंका उन्हींके अर्पण करूं।
इसमें न मेरी योग्यता कुछ गर्व मैं कैसे करूं ॥
अतएव कर " गीतार्थप्रबोध समर्पण " सादर गुरो !।
है प्रार्थना भगवानसे यह सुखीकर भवभ्रम हरो ॥

बदरीदास पुरोहित.

श्रीहरिः

श्रीगुरुमहाराजश्रीका संक्षिप्तपरिचय।



सज्जनो! "अवतार" कहींसे कहीं आने जानेका नाम नहीं है। सर्व व्यापक परमात्माकी किसी विशेष केंद्र द्वारा शक्ति प्रकट होनेका नामही "अवतार" है। इसीलिये शक्तिके प्राकट्यकोही शास्त्रोंमें अवतार कहा है। समष्टि या अधिक जीवोंके कल्याणार्थही अवतार होता है; किसी एक जीवके कल्याणके लिये नहीं होता। "अवतार" शास्त्रोंमें मुख्य पाञ्च प्रकारके होते हैं। (१) पूर्णावतार (२) अंशावतार (३) विशेषावतार (४) अविशेषावतार और (५) नित्याव-तार। इनमें कलाभेदसे पूर्णावतार और अंशावतार होते हैं। निमित्त भेदसे विशेषावतार और अविशेषावतार होंते हैं। अन्तःकरणमें प्रकट श्रीभगवान्का नित्यावतार है। इन पाञ्चोंमें भगवान्का "अविशे-षावतार" श्रीगुरुमें दीक्षा देते समय प्रकट होता है। अतएव श्रीगुरु महाराजभी साक्षात् भगवान् हैं। भगवान् निराकार होनेसे एकाएक मनुष्य उनके साक्षात्काररूपसे सम्बन्ध नहीं रखसकता है। इसलिये जिस मनुष्यरूपी केन्द्र द्वारा श्रीभगवान् अपनी ज्ञान-शक्तिको प्रकट करके शिष्यको अपनी ओर आकर्षण करते हैं वेही श्रीगुरुदेव हैं। इससे "श्रीगुरुमहाराज" का नीचेकी पंक्तियोंमें संक्षिप्त परिचय देकर अपने भाग्य एवं वाणीको सफल करता हूं।

उपरोक्त श्रीभगवान्के "अविशेषावतार" श्रद्धेय श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ अतीन्द्रिय तत्त्ववेत्ता योगीराज श्री १००८ श्री वनराजजी गुरुमहा-राजश्रीका जन्म पुष्टिकर ब्राह्मणजातिमें वि० सं० १९२२ के पौष कृष्णा अष्टमीको जोधपुरमें हुआथा। गुरुमहाराजने ७ वर्षकी अवस्थामें

ही गणित, साहित्य संस्कृत और संगीतादि विद्याओंका अच्छा ज्ञान करलियाथा। आप बालपनसे ही भजन ध्यानमें अत्यन्त संलग्न रहतेथे। फिरभी पिताश्रीके आग्रहसे व्याकरण, न्याय, योग, मीमांसा और वेदान्त आदिका अध्ययन करलियाथा; संगीत, ज्योतिष और स्वरोदयके तो आप धुरंधर विद्वान् होगयेथे। यद्यपि आप उदासीन और वैरागमग्न रहतेथे; तथापि आपका विवाह संस्कार किया गया और माता पिताके पूर्ण आग्रह होनेसे कुछ वर्ष गृहस्थमें रहकर ही भजन ध्यानादि किये। तथा कलकत्ता, हैद्राबाद दक्षिण और बम्बई आदि शहरोंमें रहकर आशाप्रद धनसे माता, पिता और पत्नीको सन्तुष्ट किये। आप शिवजीके परम भक्तथे. शिवपूजामें आप ८ आठ घंटे पर्यन्त लगे रहतेथे। आप मुख्यकर संगीत विद्याकी शिक्षा देतेथे; और बड़े २ राजा महाराजा और सेठ साहूकारोंको शिष्य कियेथे। आप ताल स्वरके साथ अपने इष्ट शिवजीको बहुत प्रसन्न करतेथे। एक दिन शिवजीने दर्शन देकर भगवान् श्रीकृष्णकी भक्ति करनेका आपको उपदेश दिया था। ठीक उसी दिनसे आप माता पिता और पत्नीके रहते हुये ही भगवान् श्रीकृष्णकी प्रेमा भक्तिमें ऐसे तल्लीन होगये कि २०,२१ घंटे तक निरन्तर प्रेमाश्रुओंसे हरिगुण गाते हुये शास्त्रविधिके साथ आठवर्ष पर्यन्त श्रीकृष्णकी अहर्निश भक्ति करते रहे। उस समयका एक पद यह है जो स्वयं श्रीगुरुमहाराजश्रीकी कृति है।

(रागनूर सारङ्ग)

जिन कृष्ण चरण रति कीन; तिन्हें नहीं जगत्सुहावेहो। जगत्सुहावेहो तिन्हें नहीं विषय लुभावेहो जिन कृष्ण चरण०। टेर

अस्थाई ... मात पिता स्त्रिय सुत तन धन जन, एक न भावे हो

पलपल प्रीति करत मन मोहन, क्षण न भुलावे हो तिन्हें नहीं० ॥१॥

जिमि निज वत्स धेनु नहीं विसरे, वनमें जावे हो। जिमि स्त्री पानी जात बातकर, घट न गिरावे हो तिन्हें नहीं० ॥ २ ॥

नट चड वर तरु बांसगही पुनः मन न डुलावे हो। जिमि हरिचरण प्रीति अतिशय सो भक्त कहावे हो तिन्हें नहीं० ॥ ३ ॥

कह"वनराज" भक्तिकर ऐसी जन्म न आवे हो। कृष्णरूप भज कृष्णरूप हो निजपद पावे हो तिन्हें विषय लुभावे हो जिन कृष्ण ॥४॥

इसप्रकार प्रेममग्न होकर अतीन्द्रिय तत्त्ववेत्ता गुरुमहाराजने जब परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णकी अनन्यभक्ति की तब उन विभुमें इतना धैर्य कहां था जो अपने अनन्यभक्तको दर्शन देनेमें एकक्षणकाभी विलम्ब करें अर्थात् उन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने चार भुजासे प्रकट होकर अपने भक्तको दर्शन दे दिये। गुरुमहाराजके हृदयमें उस समय जो कुछ दिव्य भाव और अलौकिक परमानन्दका अनुभव हुआ था उसे लिखनेकी इस तुच्छ बालकमें तथा जड़ लेखनीमें शक्ति नहीं हैं; परन्तु गुरुमहाराजश्रीके मुखसे जिस समय इस विषयको सुना था उसकी स्मृति आजानेपर अश्रुधाराओंके साथ शरीर पुलकित होकर रोमाञ्च हो आते हैं, कण्ठ सूख जाता है और कहने या लिखनेकी बहुत इच्छा रहनेपर भी कुछ कहा या लिखा नहीं जा सकता। ऐसी स्थितिमें पाठकोंसे क्षमा प्रार्थी हूं कि, मैं उस दिव्य विषयको पूर्णरूपसे आपके समक्ष नहीं रखसकता हूं।

श्रीगुरुमहाराज यों तो बालपनसे ही एक प्रकारसे विरक्त और दिव्य शक्ति सम्पन्न थे; परन्तु जिस दिनसे भगवत्साक्षात्कार हुआ था उस दिनसे तो आप गृहस्थको त्याग देनेपर उतारू हो गये थे; किंतु

"गीतोपदेश"से आप माता,पिताकी सेवा और धर्मपत्नीकी पालना करनेमें कुछ काल गृहस्थाश्रममें ही रुक गये और ऐसा करनेमें श्रीगुरुदेवने किसी प्रकारका क्लेश या दुःख नहीं समझा । तथा माता पिता और धर्मपत्नीका उत्तम रीतिसे भरण पोषण करते रहे। कारण आप जानतेथे कि ये लोग कुछही दिनोंके अतिथि है ? अन्तमें वही हुआ जो माता पिता और धर्मपत्नीका स्वर्गवास होगया और श्रीगुरुमहाराजने उनकी विधिवत अन्त्येष्टिक्रिया और गयाश्राद्ध एवं ब्राह्मणभोजनादि करवाके आनन्द कर दिया । ये सब कार्य ४० वर्षकी अवस्थामें करके अन्तमें वि. सं. १९६२ के कार्तिक मासमें आपने " सर्वत्याग " करदिया और अमित शिष्यों व सम्बन्धियोंको रोते विलखते छोड़कर जोधपुर मारवाड़के पहाड़ोंमें एक रमणीय वनमें जा विराजे ।

श्रीगुरुदेव जिस दिन शहर छोड़कर जङ्गलमें मङ्गल करने लगे ठीक उसी दिनसे रात और दिन असाधारण तपश्चर्या करने लग गयेथे । गुरुआश्रममें किसीको आनेकी आज्ञा उस समय नहीं थी। भजन, ध्यान और योग वेदान्तकी शक्ति बढने लगी और सम्पूर्ण जोधपुरमें आपकी सुकीर्ति होने लगी थी। लोग कहने लगे कि, जोधपुरके अहोभाग्य है जो ऐसे कृतात्मा सन्त प्रकटहुए। तीन वर्षके पश्चात् अर्थात् १९६५ से गुरुमहाराजने जनताको वैदिक सिद्धान्तानुसार ज्ञान उपासना और कर्मयोगका सदुपदेश देना प्रारंभ करादिया था; और डेढयुग अर्थात् १८ वर्षोंमें गुरुमहाराज श्रीसे कई शिष्योंने ज्ञान,उपासना और कर्मयोगके रहस्योंको समझा; और सैकड़ों एवं हजारों शिष्योंने भक्ति, योग और वेदान्तके

असाधारण सदुपदेशको प्राप्त किया था योग, भक्ति और ज्ञानको तो आपने इतना सहज करादिया था कि, स्त्रियों और बालकतकने अद्भुत चमत्कार दिखाने प्रारंभ कर दियेथे। जो व्यक्ति मूर्ख और मेरे जैसे जड़ थे उन्हेंभीश्री गुरुदेवने पण्डित और सम्पादक बनादिये थे।

गुरुमहाराजश्रीका मुख्य उपदेश श्रीमद्भगवद्गीता था। गीताका आप प्रतिपक्ष एकादशीको प्रवचन करते थे। ठीक प्रातःकालकी नव-बजे आसनपर विराजमान होते थे और अठारहों अध्यायोंके सदुपदेशको सम्पूर्णकर सायंकालकी ९ बजे आसनपरसे उठते थे। बीच बीचमें श्रोतागणोंको जलपानादि करनेके लिये ५-१० मिनटका अवकाश दोवार देते थे; परन्तु स्वयं गुरुमहाराज एकासनसेही अखण्ड रूपसे सम्पूर्ण गीताका प्रवचन करतेथे। सहस्रों स्त्रीपुरुष सुननेको आतेथे। इसप्रकार पूरे एक युगतक अर्थात् १२ वर्षपर्यन्त सार्थक "गीतायज्ञ" का महोत्सव होता रहा। जिससे जोधपुर मारवाड़में गीताके मुख्य मुख्य सिद्धान्तोंका बच्चे बच्चेको ज्ञान होगयाथा। श्रीमद्भगवद्गीताके अतिरिक्त गुरुमहाराजश्रीने षट् शास्त्रों,उपनिषदों और इतिहास पुराणादिका भी सदुपदेश देना प्रारंभ करदियाथा। श्रीगुरुमहाराजके "वनाश्रम"का द्वार ३ बजे मध्यान्होत्तरमें खुलताथा और ७ बजे सायंकालतक जो कुछ धार्मिक या शास्त्रीय विषय सुननेकी श्रोतागणोंकी प्रार्थना होती थी उसीका उपदेश दिया जाताथा। ७ बजेके पश्चात् आश्रमका द्वारबन्धकर गुरुमहाराज भजन ध्यानमें लगजातेथे. जिसके १२ बजे तक स्थिर रहतेथे फिर कुछ निद्रालेकर४या ४॥ बजे उठजातेथे और ९ बजेतक योग प्राणायाम एवं समाधिका अलौकिक अभ्यास करतेथे। ९ से १२तक

भजन ध्यान और शास्त्रोंका मनन होता था। पश्चात् एकबार अतिसूक्ष्म भोजन करके ग्रन्थप्रणयनादिकार्यमें लग जातेथे। यही कारणथा कि, गुरुमहाराजश्रीने "संगीतपञ्चरत्न" "षटदर्शन" और "स्वरोदयकल्प"; आदि कई पुस्तक रच रखी हैं। उनमें "संगीत पञ्चरत्न" तो प्रकाशित हो चुकी है और अन्य यथावसर हो सकेंगी।

गुरुमहाराजश्रीने भक्ति, ध्यान और धर्मप्रचार द्वारा अनेक जीवोंका उद्धारकर वि० सं.१९८३ के भाद्रपद शुक्ला राधाऽष्टमीको अपने कलेवरको त्यागकर परमपदको प्राप्त करलिया था अर्थात् अपने व्यक्त स्वरूपमें लय होगये थे। श्रीभगवान्के "अविशेषावतार" पूज्यपाद श्रद्धेय गुरुमहाराज श्रीका चरित्र अपार है। अतः संक्षेपमें यहांपर जो कुछ परिचय दिया है उससेही हमारे गुरुभाई अपनेको सन्तुष्ट करेंगे और श्रीगुरुभक्तिको अहर्निश बढाते हुये अपने देश, समाज और धर्मकी समुन्नतिकर गुरुमहाराजके सदुपदेशद्वारा अपने आपको कृतार्थ करेंगे। इत्यलम्।

महाराजश्रीका शिष्य-

बदरीदास पुरोहित,

ॐ तत्सत।

गीतार्थप्रबोध-ध्यान.

(१)

श्रीकृष्णकी एकाग्र मनसे वारवार सु वन्दना ।
करते उसे हैं ध्यान कहते हैं विचार रु चिंतना ॥
हो तदाकार[1] स्ववृत्तिसे जो इष्टमें लय मन मुदा[2] ।
ध्यै धातु अर्थ हि मनन करना ध्येय[3] चिंतन है सदा ॥

(२)

भगवान नारायण स्वयं जो ज्ञान अर्जुनको दिया ।
प्राचीन मुनिवर व्यास उसको महाभारत रच दिया ॥
हैं उसीमें अद्वैत[4]अमृत वर्षनेवाली सती ।
ऐश्वर्य अष्टाध्यायवाली द्वेषिणी भव भगवती ॥
भगवतीगीते ! मातु तेरा ध्यान धरता हूं सदा ।
संसारके भयसे छुड़ा दे-भुक्ति मुक्ति हि मोक्षदा ॥

(३)

हे विशाल बुद्धि कमल लोचन व्यास तुमको हम नमें ।
किय प्रकट भारत तैलसे भर ज्ञान दीपक दिय हमें ॥

(४)

हैं शरणजन[5]-हित कल्पतरुसम हाथमें चाबुक लिये ।
शुभ ज्ञानमुद्रा कृष्ण धरकर गीताऽमृतको दुहदिये ॥
उन कृष्णको शतवार मेरी वारवार प्रणाम है ।
जिससे न हो फिर जन्ममृत्यु रु मोक्ष हो अभिराम[6] है ॥

---

१ ध्येयके आकारवाला बनकर । २ मनको हर्षितकरके । ३ जिसका ध्यान कियाजाय ४ जीव ब्रह्म एक है इस अलौकिक ज्ञानामृतको वर्षानेवाली । ५ शरणागतके लिये कल्पवृक्षके समान है. ६ आनन्दमयीमोक्ष होजातीहै ।

(५)

हैं अखिल श्रुतियें गाय तिहिँ श्री कृष्ण दोग्धा लख स्वयं ।
हैं पार्थ वत्स सुधीर भोक्ता दूध गीतामृत अयं ॥

(६)

गीतार्थरूप सुगंध केसर शुभ अनेकाऽऽख्यानहै ।
परमार्थके उपदेशद्वारा प्रफुल्लित जो भान है ॥
हैं भ्रमर सज्जन पानकरते हर्ष रस जिसमें लगा ।
कलिपापनाशक परासरसुत व्यास मुख सर[२]में उगा ॥
श्रीमहाभारतरूप निर्मल कमल है वह मम करें ।
कल्याण भवमें भुक्ति मुक्तिहि जीवते जी हम धरें ॥

(७)

हैं भीष्मद्रोणाचार्य तट दो वीर जयद्रथ जल रहा ।
गान्धार नीलेकमल हैं अरु शल्य जैसे हैं ग्रहा ॥
हैं कृपाचार्य प्रवाह जिसमें कर्णको लहरें कहा ।
भयरूप अश्वत्थाम विकर्ण जहाँथे दोनों ग्रहा ॥
थी सुयोधनसी भ्रमर ऐसी भयङ्कर रण नदी अरे ।
श्रीकृष्ण कैवर्त[३]कक्रृपासे उसे पाण्डवगण तरे ॥

(८)

किय जगद्गुरु वसुदेव सुतने नाश चाणुर कंसका ।
दिय परमआनन्द देवकीको तं प्रणाम तदंशका[४] ॥

१खुलेहुएसा प्रतीत होता है । २ तालावमें । ३ नावचलानेवाला । ४ उसीका दास ।

(९)

जिनकी कृपा मूकको[1] भी वाचाल करती हैं सदा ।
पर्वत लँघाती पंगुको[2] उन माधवं नमवौं मुदा ॥

(१०)

अज वरुण इन्द्र रु रुद्र मरुतहि दिव्यपदसे स्तुतिकरें ।
श्रुति साङ्ग पद क्रम उपनिषदसे सामगा[3] गायन धरें ॥
हो ध्यानमें स्थित योगि तद्गत चित्तसे देखें जिन्हें ।
जिसका न अन्त लखें सुरासुर नमन कर "बदरी" उन्हें ॥

(११)

श्रीकृष्ण गीताशास्त्रको जो स्वयं मुख कजसे कहा ।
जग प्रकट है नर इसीका कर पाठ निशिदिन सुख महा ॥
होगा न अन्य न मनन करने योग्य संग्रहके कभी ॥
है एक गीताशास्त्रमें सब शास्त्रका निर्णय सभी ॥

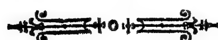
ॐ तत्सदिति गीतार्थप्रबोधे ध्यानपाठ सम्पूर्णम्.

---

१ गूंगेको । २ पांगुलेको । ३ सामवेदके गानेवाले ।



श्रीगुरुस्तुत्यष्टक ।



गुरुहि ब्रह्माविष्णु शिव-भव सृष्टि स्थिति लयकारिणं
ज्ञान कर्मोंपासना-मय वेदविद्भयहारिणं ॥

सच्चिदानन्दरूप-श्रीगुरु शिष्यजनहितकारिणं ।
जयति जय जगवन्द्य स्वामी महाबुद्धिप्रचारिणं॥१॥
रुचिर गुरुउपदेशसे लख शिष्यभवभ्रमदायकं ।
जीवते जी मुक्त हो गुरुभक्त अतिसुख-दायकं ॥
सत्य दिवि भूलोकमें गुरुमन्त्र सिद्धि प्रदायकं ।
जयति जय जगदीश! जगदुख हारिणं प्रियदायकं॥२
श्रील-जन हो मोह मद बिन लहै भवबिच सुख घनं ।
महापापी महाअघहर भजत गुरु हो चिद्घनं ॥
अहो श्रीगुरु दया करताहि जीव होत निरञ्जनं ॥
जयति जय स्वाराज्य-प्रद गुरु राष्ट्रहित जनरञ्जनं३
वरुण अरुण सुरादि गुरुकी भक्तिसे भव तिरगए॥
सदा श्रीगुरुदेव आश्रित मूर्ख हू पण्डित हुए ॥
दुखद्भवभयहारिश्रीगुरुदेवदेवमहेश्वरं ।
जयति जय जनरञ्ज पदकञ्ज जपहु गुरुविश्वेश्वरं ॥४॥
नमत गुरुपद देव दानव सिद्ध किन्नर चारणं ।
शुद्ध मन नित विनय करते हरहु गुरु दुखदारुणं ॥

श्रेष्ठपद ये हेतु धरते विष्णुशिवसुरनायकं।
जयति जय जगजीव-जीवन श्रीप्रदं शुभदायकं॥५॥
राज्य–पद मद मस्त हो क्षय कराहिं जीवनसुखकरं।
ताहि रक्षाकरें श्रीगुरु देव भक्तनभयहरं॥
दिव्यसुखसम्पन्न हो नित शिष्य भजते गुरुपदं।
जयति जय जगजन्तुभयहर कीजिये भव सुखप्रदं६
जरा मरण रु जन्म दुखसह भ्रमत भव संसारिणं।
उन्हें श्रीगुरुअभय करते ज्ञान दे सुखकारिणं॥
अतः श्रीगुरुदेव भवमें कल्पतरु समफलप्रदं।
जयति जय स्वानन्ददायक जगतपालक हो मुदं॥७॥
जीवश्रेयश सौख्य ले कर भक्ति गुरुपदकञ्जनं।
सुखद श्रीगुरुदेव सबके सेव्य मुनिमनरञ्जनं॥
"दासबदरी" भजहिं निशि दिन दिव्यपद दुखगञ्जनं।
जयति जय जगपाल जगगुरु यशस्वी भयभञ्जनं८॥

दोहा–

अक्षर प्रतिवृत्त आदि औ, अन्तपाद उतराध।
लखि मम गुरु शुभनामको, मुग्ध होऊ सब साध॥



ॐ तत्सत् ।

भूमिका ।

भगवान् श्रीकृष्ण परमात्माने मनुष्यमात्रको संसार सागरसे तरजाने या तिरानेके लिये अर्जुनको निमित्त पाकर अपने प्राचीन सदुपदेश जो " कर्मयोग " है उसे भारतीययुद्धके आरंभमें किया था; उसी " कर्मयोग " पूर्ण गीताका समस्त विश्वमें प्रचार है और सम्पूर्ण मानवजाति जिससे लाभ उठारही है तथा जगत्की ऐसी कोई भी भाषा या जुबान नहीं जिसमें "गीता"का अनुवाद न हुआ हो. कई प्रकारके भाष्य, टीकायें और टिप्पणियें गीतापर हो गयीं, हो रही हैं और भविष्यमें होंगी । परन्तु गीता जैसे अनुपम रत्नका प्रकाश अभी नित नये ढंगसे ही विकाशित होरहा है. इसमें जरा भी सन्देह नहीं है । कारण भगवान् श्रीकृष्णने गीताका सदुपदेश किसी धर्मविशेष, देशविशेष और जातिविशेषके लिये ही नहीं किया; वल्कि सम्पूर्ण विश्वधर्म और मानव समाजकी समुन्नतिके लिये सर्वात्मरूपसे कहा है । यही कारण है कि-" श्रीमद्भगवद्गीताको " हिन्दू, ईसाई, मुसलमान, यहूदी और पारसी आदि मनुष्यमात्र मानते हैं.और सारा संसार उसे आदरकी दृष्टिसे पूजता है। अतः विचारना चाहिये कि, जिस भगवद्गीताको "विश्वधर्मकी सर्वमान्यपुस्तक " या विश्वंभरकी असाधारण वाणी " कहते हैं । उस भगवद्गीतामें ऐसा क्या तत्त्व है जो भिन्न २ देश, समाज और धर्मावलम्बी मनुष्यमात्रको मान्य है? उसे हमें अच्छे प्रकारसे जानना चाहिये और इस आदर्शको सामने रखकर " गीतार्थ " को समझना उचित है कि, इसमें एकसम्प्रदाय या एकदेश और एक जातिकाही हितकरनेवाला सद्रुपदेश नहीं है वल्कि सम्पूर्ण

विश्वका कल्याण करनेवाला "महोपदेश" गीताग्रन्थमें कूटकूटके भर दियागया है।

जगदीश्वरने सृष्टिरचनाके पूर्व विचार किया था कि-"एकोऽहं बहु स्याम् प्रजायेयेति" "मैं एकका अनेक होजाऊं और सृष्टिको रचूं।" तदनुसार परमात्माने पाञ्चभौतिक सृष्टिको अपने शुद्ध-सङ्कल्पसे रचदिया और उन रचे हुए जीवोंके कल्याणार्थ अपने निःश्वासरूपवेदको भी प्रकटकरदिया। जिससे जीवमात्रको पुनःअपने मूलस्वरूप परब्रह्म परमात्माके स्वरूपको प्राप्तकरनेका अर्थात् नर-का-"नारायण" होजानेका सत्त्व अक्षुण रखनेका सौभाग्यप्राप्त रहे। सर्वज्ञ विश्वेश्वरने प्रथमसे ही निश्चय कररक्खा था कि, सृष्टि-रचनामें फँसेहुए जीवोंका मोक्ष विना मुझे जाने, चाहै और प्राप्त-किये कभी नहीं होसकेगा। परब्रह्म परमात्माको जानना, चाहना और प्राप्तकरना बहुत ही कठिन बात है. यह बात स्वयं परमेश्वर जानते थे यही नहीं वल्कि आप हम जैसे सांसारी जीव भी अनु-भव करसकते हैं कि, सर्वव्यापी सर्वेश्वर परमात्मा जो ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयरूपी त्रिपुटीसे रहित हैं उन परमात्माको जानना साधारण बात नहीं है। जिस वस्तुको पहले जाना ही नहीं जासकता उसके लिये "प्रेम" अथवा चाहना कभी नहीं की जास-कती। जब मनुष्य किसी पदार्थ या तत्त्वको अच्छे प्रकारसे जान-जाता है तब उसके साथ प्रेम करता है; और सम्यक प्रकारसे जानकर जिस वस्तु या तत्त्वसे सच्चा प्रेम कियाजाचुका है उस वस्तुकी या तत्त्वकी अवश्यही प्राप्तिहुए विना नहीं रहसकती। यह अखण्ड सिद्धान्त है। स्पष्ट अनुभव है। इसी उद्देश्यको लक्ष्यमें लेकर परमात्माने अपौरुषेय वेदोंकी रचना की है। परन्तु ज्यों ज्यों कालभेदसे जीवोंकी "ऋतंभराबुद्धि" और दिव्यदृष्टि कमजोर होतीगयी, त्यों त्यों स्वयं भगवानने अवतार लेकर अपने प्राचीन सिद्धान्त "कर्मयोगको" जीवोंको समझानेकी दया की है। ठीक

इसी सिद्धान्तानुसार जगत्पिता जगदीश्वर भगवान् श्रीकृष्ण जो पूर्णावतार थे उन्होंने गत द्वापरके अन्तसमय विचार किया कि, कलिदोषदूषित जीवोंकी बुद्धि ऋतंभरा या दिव्यरूपसे स्थिर होकर पूर्णब्रह्मको देख नहीं सकेगी और न मेरे निःश्वसितरूप वेद और मेरी साक्षात् विभूतिस्वरूप ऋषिमहर्षियोंके देखेहुए मन्त्रों एवं श्रुतियोंके अर्थको ही अच्छेप्रकारसे जानसकेगी; अतएव वेदादिके अर्थका जबतक मनुष्यको क्रियात्मिक ज्ञान नहीं होगा तबतक जीवोंको परमात्माके स्वरूपमें प्रेम या उसे प्राप्तकरनेकी युक्तिका पता लगना महान् कठिन है। इस सिद्धान्तका स्मरण कर परमात्माने सम्पूर्ण जीवोंपर असीम कृपाकी और भारतीययुद्धके समय अर्जुनको निमित्त पाकर जो सदुपदेश किया है वही "भगवद्गीता"के नामसे समस्त संसारको तिरानेवाली सुदृढ एवं सुन्दर नौका या जहाज़ है। इस संसारसागरको तिरानेवाली गीतामें मुख्य तीन बातें है जो श्रीभगवान्‌के निःश्वासरूप वेदोंमें कर्म, उपासना और ज्ञानकाण्डके नामसे पूर्ण, श्रेयस्कर और स्वतन्त्र मार्ग है। वेद अपौरुषेय है, गंभीर है, अत्यन्त गूढार्थको धारणकरनेवाला है। यही नहीं बल्कि वह संस्कारी द्विजमात्रको ही अपने पढने पढ़ानेका अधिकारी मानता है। अतः मनुष्यमात्र उसके अधिकारी नहीं होसकते। परन्तु श्रीमद्भगवद्गीता गंभीर और गूढाशयी होनेपर भी मनुष्य मात्रको अपना अधिकारी स्वीकार करती है. इसीलिये गीताका संसारमें अधिक प्रचार है. और अधिक संख्याओंमें इसपर भाष्य एवं टीकायें की गयी है। उन सबको देखने और मनन करनेपर यही निष्कर्ष निकलताहै कि भगवान् श्रीकृष्णने वेदरूपी सागरको गीतारूपी गागरमें भरदियाहै।

जैसे वेदके तीन काण्ड हैं ठीक वैसे ही श्रीमद्भगवद्गीताके भी तीन योग हैं। वेदका प्रत्येक काण्ड पूर्ण, स्वतन्त्र और श्रेयस्कर है ठीक वैसेही गीताका प्रत्येक योग है। वेदके तीनों काण्डोंका विचार

जिस प्रकार पूर्ण, स्वतन्त्र और श्रेयःप्रद है ठीक वैसेही गीताके तीनों योग पूर्ण,श्रेयस्कर एवं स्वतन्त्र है। इसमें श्रुति और स्मृतिको निष्पक्षपातसे विचारनेवाले महाशयोंकेलिये ज़राभी सन्देह नहीं है; परन्तु जो व्यक्ति मूलश्रुति और स्मृति-गीताके अर्थ या रहस्य पूर्ण वाक्योंको नहीं समझ सकता है उसको भाष्य और टीकाकारोंके सिद्धान्तों और क्रमोंपर ही निर्भर रहना आवश्यक है। क्योंकि स्वल्पबुद्धिवालोंको बिना भाष्य और टीकाओंको विचारे गीताका रहस्य समझमें आजाना बहुत ही कठिन है। श्रीमद्भगवद्गीतापर कई भाष्य और टीकायें अनेक प्रकारकी भाषाओंमें हो चुकी है। हम उन सबको तीन भागोंमें विभक्त करसकते हैं (१) ज्ञानयोग विषयक अर्थात् ज्ञानकाण्डात्मक (२) भक्तियोग विषयक अर्थात् उपासनाकाण्डात्मक(३)कर्मयोग विषयक अर्थात् कर्मकाण्डात्मक। इन सबमें पूज्यपादाचार्य भगवान् श्रीशङ्कराचार्य जगद्गुरु महाराजका भाष्य प्रथम है और "ज्ञानयोग" के सिद्धान्तको ही इस क्रमसे वर्णन करता है कि "ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं है" कर्मकाण्ड और उपासना-भक्तियोगसे अन्तःकरणकी शुद्धि तथा चित्तकी चञ्चलता मिटकर ज्ञान होनेपर मोक्ष होसकता है ? अर्थात् केवल ज्ञानही श्रेयस्कर है।अन्य भक्ति और कर्म ज्ञानोत्पत्तिके साधन है ? जैसे मल, विक्षेप और आवरण; यही तीन रोग सांसारी जीवोंको लगेहुये हैं उनको हठानेकेलिये परमोदार भगवान् श्रीकृष्णने क्रमशः मलदोषोंकी निवृत्तिकेलिये कर्मकाण्ड, विक्षेप दोष हटानेको भक्तियोग और आवरण दोष दूर करनेको ज्ञानयोग कहा है। यहांपर यह भी स्पष्ट करदियाजाता है कि भगवान् शङ्कराचार्य महाराजने अज्ञानके आवरणको दूर करना अर्थात् मैं जीव नहीं ब्रह्महूँ इसीका नाम मोक्ष है। यह ज्ञानकाही कार्यकहा गया है जो वास्तमें ही सत्य एवं निर्विवाद है; परन्तु ज्ञानके सिवा भक्ति और कर्म स्वतन्त्ररूपसे श्रेयस्कर

नहीं यह कहना पक्षपात है? क्योंकि वस्तुतः श्रुति और स्मृतिकी दृष्टिमें तीनों मार्ग पूर्ण, स्वतन्त्र और श्रेयस्कर है। कारण भगवान्के वाक्य अपूर्ण, परतन्त्र और अनिष्टकर नहीं हो सकते हैं। यही सोचकर भगवान् रामानुजाचार्य और श्रीमद्वल्लभाचार्य महाराजने भक्तियोगसे मोक्ष होता है अन्यसे नहीं ऐसा सिद्ध किया है। बस इन्हीं आचार्योंके भाष्योंको सामने रखकर तत्तद्देशीय विद्वानोंने अपने मतोंको सिद्ध कर बतलादिया है कि, श्रीमद्भगवद्गीतामें ज्ञान और भक्तिको ही मोक्षप्रद कहा है कर्मको नहीं? कर्म तो जड़ है? वे किसी प्रकारसे श्रेयस्कर नहीं हो सकते? क्योंकि कर्मोंकी पहुंचही प्राकृतिक अन्तःकरणको शुद्ध करदेने तक है? इसप्रकार त्रिकाण्डमय वेदमें या त्रययोगमयी गीतामें हमारे संस्कृतके प्रखर विद्वानोंने घोर मतभेद खड़ा करदिया है। बस इसीका परिणाम है कि भारतवर्षमें अनेक मतमतान्तर और सम्प्रदायें खड़ी होगयीं?

मतभेद होना और साम्प्रदायित्वका आग्रह करना उस दशामें अच्छा है; जिस समय हमारा आदर्श और अस्तित्वका लोपहोकर समस्त संसारका नाश होता हो; जैसे—किसी समर्थ व्यक्तिने कहा कि गीतामें तो यही कहा है कि जिस व्यक्तिको अहंकार नहीं है और बुद्धि जिसकी लेपायमान नहीं है वह पुरुष इस सम्पूर्ण लोकोंको नाश कर दे तो भी उसको बन्धन नहीं होता और न वास्तवमें वह उसे मारताही है। यह अहंशून्यज्ञानी और प्रवृत्तिशून्य योगीके आचरणकी कसौटीकी बात है। इसमें यदि यह पक्ष किया जाय कि ज्ञानी चाहे सो करसकता है? और योगी जचे सो भोग सकता है? तो अवश्यही मतभेद होगा और जब अधिक दिन तक मतभेद चला जायगा तो अन्तमें साम्प्रदायित्वकी नीम लग जायगी जो वस्तुतः स्वेच्छाचार और अनाचारके असह्य प्रहारोंसे अपने आदर्श एवं अस्तित्वकी रक्षा करते हुए संसारका श्रेय करनेकी आशा रखेगा। किन्तु जो शक्ति संघमें रहती है वह

एकमें नहीं ठहरसकती; इस न्यायसे हमारे भारतीय मत मतान्तरोंमें संघशक्तिका अभाव होजानेसे साम्प्रदायित्वका झूठा भाव बढ़ गया है और अहंकारपूर्ण एवं प्रवृत्तिमग्न व्यक्तिभी अपनेको महान् ज्ञानी और भक्त सिद्ध करने लग गये हैं ? यही कारण है कि "श्रीमद्भगवद्गीता जैसे ग्रंथरत्नके रहते भी हमारा देश दुःखी, पर-तंत्र और अपढसाहै यही नहीं वल्कि विदेशी एवं विधार्मियोंने हमारा सर्वस्व–भारतीय शासन हरण करलिया है ? जिससे न तो हम भार-तीयोंमे भगवान् शंकराचार्यके कथनानुसार'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् मैं ब्रह्महूं की सच्ची ताकत है ? और न श्रीरामानुजाचार्य एवं श्री वल्ल-भाचार्य महाराजश्रीके आदेशानुकूल "अहंतवास्मि" अर्थात् हे परामात्मन् ! मैं आपका हूँ की भी वास्तविक शक्ति है; जैसे कि महामान्य ज्ञानी जड़भरत और भक्त प्रह्लादमें थी। निरीबातोंसे ज्ञानयोग या भक्तियोग पूर्ण, स्वतंत्र और श्रेयस्कर नहीं हो सकता। ज्ञानयोगसे मोक्ष तभी हो सकता है जब ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय इन तीनों त्रिपुठीका अन्त होकर अखण्ड ब्रह्माकारवृत्ति होजाय; यही हाल भक्तियोगका है:कि जबतक श्रीभगवान्के सिवाय अन्य'पदार्थ–शरीर, स्त्री, पुत्र और धनादिकमें ममत्व है तबतक "मैं आपका हूँ" यह भाव पूर्ण नहीं होसकता। ईश्वरका पूर्ण या अनन्यभाव उत्पन्न हुये विना अन्तःकरणमेंसे ममताका नाश नहीं हो सकता और मम-तावान् पुरुषकी कल्पित--भक्तिसे या श्रीभगवान्की बनावटी बातों से मोक्ष होजाना स्वप्नके समान मिथ्या है। अतएव अकृतात्माओंकी करतूतोंसे भारत जैसे देशकी, हिन्दू जैसे समाजकी और सना-तन जैसे धर्मकी आज सम्पूर्ण विश्वमें अवनति मानी जारही है ? कहिये इससे बढकर हमें क्या दुःखहोगा ?

जिस श्रीमद्भगवद्गीताकी उत्पत्ति संसारके दुःखोंको दूरकरनेके लियेही भगवान् श्रीकृष्णने की थी और जिसके असाधारण "ज्ञान

योग " और अनुपम " भक्तियोग " पर भगवान् शङ्कराचार्य एवं रामानुजाचार्य महोदयोंने स्वकीय भाष्यलिखकर भारतको सुखी, सम्पन्न और स्वतन्त्र करनेकी दया की थी;उसी भारतको आज हम दुःखी दीन और परतन्त्र देखते हैं. यही नहीं वल्कि " श्रीमद्भगवद्गीता " जैसे सद्‌ग्रन्थके विद्यमान होतेहुए भी हम अकर्मण्य वनते चले जारहे हैं इससे वढकर हमारा क्या पतन होगा ? अर्थात् कुछभी नहीं होगा। क्योंकि जो कुछ पतन होना था होगया और जो कुछ दुःख भोगना था भोग चुके ? अब तो " कर्मयोग " का डङ्का बज चुका है. लोकमान्य पं. बालगङ्गाधरतिलक भगवान्‌का " गीता-रहस्य " भारतीयोंकी रगोंमें पुनः " कर्मयोग " का रस भररहा है. जिससे भारतीयोंके दिलोंमें भगवान् श्रीकृष्णके बतलायेहुये " कर्मयोग " की प्रतिध्वनि होने लग गयी है और सर्वसाधारण जनता सजग होकर समझना चाहती है कि-"कर्म क्या है ? कर्मसे मोक्ष कैसे होता है ? और किस प्रकारसे कर्मोंका आचरण करनेपर मनुष्य जीवन्मुक्त होसकता है ?" श्रुति और स्मृति स्पष्ट घोषणा करती है कि, वास्तवमें कर्म भगवान्‌का स्वरूप होनेसे या भगवदिच्छा होनेसे जड़ नहीं "चेतन" है। चेतनकर्मही जीवोंके पाप भस्मकर मोक्ष करसकते हैं। जैसे "सोमल" जिसे हलाहल जहर कहते हैं उसे वैद्यलोग नानाप्रकारके संस्काररूपी कर्मोंसे शुद्ध करके अमृतस्वरूप बना लेते हैं; ठीक वैसेही भगवदिच्छा या सृष्टिचक्रमें फँसेहुये जीवोंका " यज्ञ, दान और तप " आदि कर्मोंमें असङ्गता या समबुद्धिके साथ संस्कार करके " नरका नारायण " करदेते हैं, जीवका ब्रह्म बना देते हैं और प्रत्यक्षरूपसे सिद्धकर दिखाते हैं कि-मैं जीता हुआ ही सदैव मुक्त हूं.

जिस कर्मसे मनुष्य मोक्षपाता है और जो कर्म पूर्ण, स्वतन्त्र और श्रेयस्कर है उस कर्मका स्वरूप और अर्थ श्रुति भगवतीने इस

प्रकार किया है। यथाः=" पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपोब्रह्मपराऽमृतम्" अर्थात् पुरुषही यह विश्व, कर्म, तप, ब्रह्म और परम अमृत है। द्वि० मु० प्रथम खण्डके १० मंत्र. इस श्रुति आदेशसे कर्म वस्तुतः जड़ नहीं है। जो लोग अन्तःकरणकी शुद्धि कर्मसे बतलाते हैं उसका भी श्रुति खण्डन करती है. कारण श्रुतिकी दृष्टिमें अन्तःकरणकी शुद्धि ज्ञानकी कृपासे होती है। यथा " ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वः" (मु० २-८) अर्थात् ज्ञानके अनुग्रहसे शुद्धान्तःकरणवाला पुरुष ध्यान योगसे उस निरवयव परमात्माका दर्शन पाता है। यहां अन्तःकरण की शुद्धि ज्ञानसे बतलायीगयी है। अतएव कर्मयोगसे स्वतन्त्र मोक्ष चाहनेवाले "कर्मठों" को पहले वस्तुका ज्ञानकरके अपने अन्तःकरणको शुद्ध करना चाहिये. पुनः भक्तियोगसे एकाग्र चित्त हो कर कर्म अर्थात् ध्यानयोगसे परमेश्वरका साक्षात्कार करें। इसीमें कर्मकाण्डकी पूर्णता, स्वन्तत्रता और श्रेयस्करता है. इन तीनोंको श्रुतिमाताने स्पष्ट बतलाकर "कर्मकाण्ड" से सहजमें मोक्ष होना सिद्धकरदिया है। जैसे ज्ञानकाण्डके पक्षपाती "ऋतेज्ञानान्नमुक्तिः" ज्ञानादेवतु कैवल्यम् " कहते हैं; ठीक वैसेही निषेध और विधिमुखसे श्रुति भगवती स्पष्ट कहदेती है कि-"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतंसमाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।" ई० २ मन्त्र० अर्थात् इस लोकमें कर्मोंको करताहुआ ही सौवर्ष जीवित रहनेकी इच्छाकर। ऐसा किये विना तुझ मनुष्याभिमानी नरमें दूसरी कोई भी शक्ति नहीं है, जो कर्मसे निर्लिप्त रक्खें अर्थात् कर्म करते हुएकी मोक्षकरें। भगवती श्रुतिको जिस प्रकार ज्ञान और उपासनासे मोक्ष करना स्वीकार है; ठीक वैसेही कर्मसे मोक्ष होना स्वीकार है। यह उपरोक्त श्रुतिने डंकेकी चोट कहदिया है। परन्तु आजकल नित्य और अनित्यके वादको लेकर ज्ञानकाण्डी लोग सब संसारको अनित्य कहते हैं।

उन्हें कठोपनिषद्की इस श्रुतिको जो कर्मकाण्डसे मोक्ष सिद्ध करती है उसे देखनाचाहिये कि-" जानाम्यहं शेवधिरित्यनित्यं नह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्। ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्निरनित्यै र्द्रव्यैःप्राप्तवानस्मि नित्यम् " क०द्वि०वल्ली १० म०। हे नाचिकेता ! खजाना अनित्य है यह मैं जानता हूं और अनित्यसे नित्य-आत्मा नहीं मिलसकता यह भी मैं जानता हूं तथापि मैंने अनित्य द्रव्यों-द्वारा नाचिकेतनामक अग्निका साधन किया है और उस कर्मद्वारा मैंने नित्यवस्तु परमात्माको पाया है। अर्थात् अनित्य देहादिसे यज्ञ, तप और दानादि कर्मको करके नित्य मोक्षको प्राप्त हुआ हूं इस प्रकार श्रुतिभगवतीने कर्मसे मोक्ष सिद्धकर मनुष्योंको साव-धानकर दिया है कि " जिसका अग्निहोत्र, अमावस्यासे रहित, पौर्णमाससे शून्य, चातुर्मास्यसे हीन, आग्रायणसे रहित, अतिथि-पूजासे रहित, असमयमें आहुति दियाहुआ, वैश्वदेवसे रहित और विधिविहीन अनुष्ठित है उसके सप्तमपर्यन्तलोकोंको नष्ट करदेता है। (म. मु. द्वि० खण्ड ३ मंत्र) अतएव श्रुतिभगवतीके सिद्धा-न्तानुसार किये जाने योग्य " कर्म " पूर्ण, स्वतंत्र और श्रेयस्कर है। इसमें जरा भी सन्देह नहीं है।

भगवती श्रुतिको जिस प्रकार कर्म मान्य हैं और कर्मके द्वारा जिसने मनुष्योंको सौवर्ष जीनेकी आज्ञा की हैं उस कर्मको स्मृति माता भी पूर्ण, स्वतन्त्र और श्रेयस्कर मानती है। श्रीमद्भगवद्गीता सम्पूर्णस्मृतियोंकी मस्तक चूड़ामणी है। उसने स्पष्टरूपसे घोषणा करदी है कि जो मनुष्य केवल आत्मामें ही रत, आत्मामें ही तृप्त और आत्मामें ही संतुष्ट होजाता है; उसके लिये स्वयं अपना कुछ भी कार्य शेष नहीं रहजाता। इसी प्रकार यहां अर्थात् इस जगतमें कोई काम करनेसे या न करनेसे भी उसका कोई लाभ नहीं होता और सब प्राणियोंमें उसका कुछभी निजी मतलब अटका हुआ नहीं रहता। इसप्रकार जब ज्ञानी पुरुष उपरोक्त प्रकारकी कोई भी

अपेक्षा नहीं रखता फिर भी लोकसंग्रहार्थ कर्म करता है। हे अर्जुन! तू भी फलकी आसक्ति छोड़कर अपना कर्तव्य कर्म सदैव किया-कर, क्योंकि "आसक्ति छोड़कर कर्मकरनेवाले मनुष्यको परम पदमोक्ष प्राप्त होता है।" गी. ३-१७-१८-१९, उदाहरणार्थ सबसे श्रेष्ठ ज्ञानी स्वयं भगवान्श्रीकृष्ण हैं। वे अपना कुछभी कर्तव्य न होनेपर भी कर्म करतेगये हैं। क्योंकि कर्मके द्वारा जनकादिकोंनेभी परमपदको प्राप्त किया है। अतएव कर्म श्रीमद्भगवद्गीताकी दृष्टिमें पूर्ण, स्वतन्त्र और श्रेयस्कर है। इसमें कुछ भी शङ्का नहीं है।

भगवती श्रुतिने "पुरुष एवेदं विश्वं कर्म०" कहकर कर्मको भगवद्स्वरूप सिद्ध किया है। उसी आधारपर या उसीका अनु-करण करतीहुयी गीता "भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः। गी. ८--१ अर्थात् अक्षरब्रह्मसे चर अचर पदार्थकी उत्पत्ति करने-वाला विसर्ग अर्थात् सृष्टिव्यापार कर्म है। ऋग्वेदके नासदीय-सूक्तमें दृश्य जगतको परब्रह्मकी विसृष्टिको "विसर्ग" कहा है। अतः बिसर्गशब्दका वही अर्थ यहां लेनाचाहिये। विसर्गका अर्थ "यज्ञका हविरुत्सर्ग" करनेकी कोई जरूरत नहीं है। कारण यह दृश्य सृष्टि ही कर्म है। इसी लिये भगवान्ने स्पष्ट कहदिया कि हे निष्पाप अर्जुन! पहले मैंने बतलाया है कि इस लोकमें दो-प्रकारकी निष्ठायें अर्थात् ज्ञानयोगसे साख्योंका और कर्म योगसे योगीयोंकी वह मार्ग है कि जिससे चलनेपर अन्तमें मोक्ष मिलता है। इनमें कर्मोंका प्रारंभ किये विना पुरुषका मोक्ष नहीं हो-सकता और कर्मोंको त्यागदेनेसे ही सिद्धि--मोक्ष नहीं मिलजा-ती। क्योंकि कोई भी मनुष्य कुछ न कुछ कर्म किये विना क्षण-भर भी नहींर हसकता। प्रकृतिके गुण प्रत्येक परतन्त्र मनुष्यको सदा कुछ न कुछ कर्म करनेमें लगायाही करते हैं। अतः यज्ञके लिये जो कर्म कियेजाते हैं उसके अतिरिक्त अन्यकर्मोंसे यह लोक

बंधाहुआ है। इसवास्ते यज्ञार्थ कियेजानेवाले कर्म भी तू आसक्ति या फलाशा छोड़कर करताजा; इसीसे मोक्ष है. कारण--"प्रारंभमें यज्ञके साथसाथ प्रजाको उत्पन्न करके ब्रह्माने प्रजासे कहा था कि इस यज्ञके द्वारा तुम्हारी वृद्धि हो, यज्ञ जो उपरोक्त श्रुति "अग्नि होत्र विधिपूर्वक" न करनेपर सात लोककी हानि बतलाई है उसी अग्निहोत्रादिको यथाशास्त्रविधिपूर्वक करना उसीका नाम "यज्ञ" है। यह तुम्हारी कामधेनु होवे अर्थात् तुम्हारे इच्छित फलोंको देनेवाला होवै। तुम इस यज्ञसे ब्रह्मा, विष्णु और महेशादि देवताओंको सन्तुष्ट करतेरहो और वे देवता तुम्हें सन्तुष्ट करते रहें। इस प्रकार परस्पर एक दूसरेको सन्तुष्ट करतेहुए "दोनों परम श्रेय मोक्षको प्राप्त करलो" जो लोग ऐसा नहीं करते हैं वे इन्द्रिय लम्पट पापायु हैं। क्योंकि इस प्रकार जगत्के धारणार्थ चलाये हुए कर्म या यज्ञ चक्रको जो इस जगत्में आगे नहीं चलाता उस मनुष्यकी आयु पापरूप है, उस इन्द्रियलम्पट अर्थात् यज्ञ न करके स्वयं उपभोग करनेवाली व्यक्तिका जीवन ही व्यर्थ है।

श्रीमद्भगवद्गीता सम्पूर्ण वेद और उपनिषदोंकी सार है। इस लिये उसमें ज्ञानकाण्ड, उपासनाकाण्ड और कर्मकाण्डका पूर्ण-रहस्य श्रुतिके समान ही भरा हुआ है। इन तीनोंमेंसे ज्ञानकाण्ड और उपासनाकाण्डका प्रचार भगवान् श्रीशङ्कराचार्य एवं रामानुजाचार्य आदि महानुभावोंने बहुत जोर शोरसे करदिया है और जो कुछ उपपत्ति या क्रम तीनों काण्डोंके समन्वयमें उपयुक्त सिद्ध हुए हैं उन्हें उक्त आचार्यमहोदय कार्यमें परिणत करचुके, जिससे जनता जानचुकी है कि "अहंब्रह्मास्मि" यह भगवान् शङ्कराचार्यका ज्ञानयोग है। "अहं तवास्मि" यह भगवान् रामानुजाचार्य एवं श्रीवल्लभाचार्य महाराजका "भक्तियोग" है। इन ज्ञानयोग और भक्तियोगका पक्ष इतना प्रबल होगया है कि-

" कर्मकाण्ड " या " कर्मयोग " का लोपसा होगया है ! सर्वसाधारण जनता अपने पूज्यपादाचार्योंके आदेशको मुख्य मानकर ज्ञान और भक्तिको ही श्रयेस्कर स्वीकार किया और कर्मको जड़ समझ त्याग दिया ? परिणाम यह हुआ कि, श्रुति और स्मृति अनुमोदित जो कर्मयोग पूर्ण, स्वतन्त्र और श्रोयस्कर है उसको अपूर्ण, परतन्त्र और अनिष्टकर समझ लेनेसे देश, समाज और धर्मका पतन होगया ! परन्तु यह बात भगवान्को किसी प्रकार पसन्द नहीं है। परमात्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है उनकी तीनों सत्ताओंका तीनों काण्ड या योग पूर्ण और स्वतन्त्ररूपसे वर्णन करते हैं जैसे सत्सत्ताको "कर्मयोग" चित्सत्ताको "ज्ञानयोग" और आनन्द सत्ताको " भक्तियोग " प्रधान रूपसे वर्णन करता है ! भगवान्का जब जब अवतार हुआ है वह " कर्मयोग " के लोप होनेपर ही हुआ है । कारण-परब्रह्म परमात्माको सत्य सबसे प्यारा है । सत्य हीके लिये वे साधु, ज्ञानी और भक्तोंकी रक्षा करते हैं, और असत्यका आचरण करनेवाले दुष्कर्मीलोगोंको मारदेते हैं ? अतः सिद्ध होगया कि कर्मयोगकी अवनति भगवान्को सहन नहीं है ? यही कारण था कि लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलक महोदयके हृदयमें प्रेरणाकर इस युगमें " गीतारहस्य " द्वारा " कर्मयोग " का पुनः भारतमें अभ्युत्थान करवा दिया है; और डंकेकी चोट सिद्ध करवादिया कि जिस प्रकार ज्ञानसे और भक्तिसे स्वतन्त्र मोक्ष है ठीक वैसेही " कर्म " से स्वतन्त्र मोक्ष है । अस्तु;

श्रीमद्भगवद्गीता "कर्मयोगका" क्या स्वरूप बतलातीहै और उसके द्वारा सर्व साधारणका किस प्रकार मोक्ष होता है? उसे बतलाया जाता है--" भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः । " इस परिभाषासे कर्मको सृष्टिका व्यापार या भगवद्शक्ति कहा है । इस कर्मको किस युक्तिसे करना चाहिये जिससे वह हमें बन्धनका-

रक न होकर मोक्षप्रद हो। इसके लिये भगवान् श्रीकृष्णने स्पष्ट बतला दिया है कि "योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय। सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।" हे धनञ्जय! आसक्ति छोड़कर और कर्मकी सिद्धि हो या असिद्धि, दोनोंको समान मानकर "योगस्थ" होकरके कर्मकर; कर्मके सिद्धहोने या निष्फल होनेमें रहनेवाली "समता" की मनोवृत्तिको ही "कर्मयोग" कहते हैं। अथवा "योगः कर्मसु कौशलम्" अर्थात् पापपुण्यसे बचकर कर्मकरनेकी जो चतुराई-कुशलता या युक्ति है उसीको कर्मयोग कहते हैं। जिस "समता" और "कुशलता" की युक्तिका नाम योग कहा है. वह युक्ति कौनसी है? उसे बतलाते हैं- "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। मा कर्मफलहेतु र्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥" कर्म करने मात्रका तेरा अधिकार है, फल मिलना या न मिलना कभी भी तेरे अधिकारमें नहीं है; इसलिये मेरे कर्मका अमुकफल मिले, यह हेतु मनमें रखकर काम करनेवाला न हो; और कर्म न करनेकाभी तू आग्रह न कर. कारण "दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगा द्धनञ्जय। बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाफलहेतवः" बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।" हे धनञ्जय! बुद्धिके साम्य योगकी अपेक्षा बाह्यकर्म बहुतही कनिष्ठ है? अतएव इस साम्यबुद्धिकी शरणमें जा फलहेतुक अर्थात् फलपर दृष्टि रखकर काम करनेवालेलोग कृपण दीन या निचले दर्जेके हैं। अतः जो साम्यबुद्धिसे युक्त होजाय वह इस लोकमें पाप और पुण्य दोनोंसे अलिप्त रहता है; यही नहीं वल्कि निरामय मोक्षधामको प्राप्त होता है. जैसे स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने कहा है-" कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः। जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥" समत्व बुद्धिसे युक्त जो मनीषिलोग, अर्थात् मननपूर्वक अपने नियत वर्णाश्रम कर्मोंको यथाशास्त्र करतेहुवे कर्मफलका त्याग करते हैं वे पुरुष

जन्म मरणके बन्धनसे अर्थात् जन्मने और मरणेसे मुक्त होकर परमात्माके दुःखविरहित परमपदको जा पहुंचते हैं; जहांसे फिर लोटना नहीं होता। अतएव अपनी बुद्धिको सम रखना, यही कर्म योगकी जान है। प्रत्येक स्वकर्म समबुद्धिसे करना चाहिये, यही कर्मबन्धनसे छुटकर मुक्तिको प्राप्त करनेकी युक्ति है सही; परन्तु यह समबुद्धि किस प्रकार की जाय और किसे ऐसा बुद्धिमान् कहना चाहिये ? इसपर भगवान् श्रीकृष्णने कहा है-"कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः। स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्न कर्मकृत" कर्म, जो अपने नियत वर्णाश्रमोचित कर्तव्य है उसमें अकर्म, अर्थात् बन्धन नहीं देखता और अकर्म अर्थात् नियतवर्णाश्रमोचितकर्मोंसे अन्य दुःष्कर्मोंमें कर्म अर्थात् बन्धन जिसे देख पड़ता है वही पुरुष सब मनुष्योंमें बुद्धिमान् और वही युक्त अर्थात योगयुक्त एवं समस्तकर्म करनेवाला है। इसी ध्येयको कार्यमें परिणत करनेके लिये अर्थात् प्रत्येककृत्यमें समत्व अर्थात् ब्रह्मभाव रखतेहुये कर्म करनेकी जो युक्ति है वही कर्मयोगकी मोक्ष है जैसे "ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्। ब्रह्मैव तेन गंतव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना" अर्पण अर्थात् हवन करनेकी क्रिया ब्रह्म है हवि अर्थात् अर्पण करनेका द्रव्य ब्रह्म है ब्रह्माग्निमें ब्रह्मने हवन किया है; इसप्रकार जिसकी बुद्धिमें सभी कर्म ब्रह्ममय है उसको ब्रह्म ही मिलता है। अतएव "कर्मयोग" पूर्ण, स्वतन्त्र और श्रेयस्कर है इसमें जराभी सन्देह नहीं है, क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण स्पष्ट घोषणा करते है कि " यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते। एकं सांख्यञ्च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥" जिस मोक्षस्थानमें सांख्यमार्गवाले लोग पहुँचते हैं वहीं योगी अर्थात् कर्मयोगी भी जाते हैं। इसरीतिसे ये दोनों मार्ग सांख्य और योग एकही है, जिसने यह तत्त्व समझलिया उसीनें ठीक

तत्त्वको पहचाना है। ऐसा कहकर अन्तमें भगवान् आदेश करते हैं कि--"सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः। एकमप्या स्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।" सांख्य अर्थात् कर्मसंन्यास और योग अर्थात् कर्मयोग भिन्न भिन्न है। ऐसा मूर्खलोग कहते हैं। परन्तु पण्डित लोग ऐसा नहीं कहते. कारण किसी भी एक मार्गका अच्छे प्रकारसे आचरण करनेसे दोनोंका फल मिलजाता है। यही नहीं वल्कि "संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ। तयोस्तुकर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते।" कर्मसंन्यास और कर्मयोग दोनों निष्ठाएं या मार्ग निःश्रेयस्कर हैं अर्थात् मोक्ष-प्राप्त करवादेनेवाले हैं सही; परन्तु मोक्षकी दृष्टिसे दोनोंकी योग्यता समान होनेपर भी इन दोनोंमें, कर्म संन्यासकी अपेक्षा कर्म योगकी योग्यता विशेष है। अतएव कर्मप्रधान "गीतार्थ-प्रबोध" की हिन्दी पद्योंमें रचनाकर सर्वधारण जनताको बतला-देना अच्छा समझा है कि गीता कर्मयोगको पूर्ण, स्वतन्त्र और श्रेयस्कर समझती है। इसीसे स्वकर्मसे विमुख हुआ अर्जुन अपने कर्तव्यका बोध करके भारतीययुद्धमें खड़ा होकर शत्रुओंपर विजय प्राप्त किया था।

भारतके वीरसन्तानो! यदि आपको भी अपना कर्तव्यपालन करना है, निरी "अहं ब्रह्मास्मि" और "अहं तवास्मि" की कल्पनाओंमे ही जीवनबर्बाद नहीं करना है और नहीं कराना है अपनेदेश, समाज और धर्मको विदेशी या विधर्मियोंके आधीन तो उठो और कर्मयोगके महत्वको समझो। नवीनभारत विना कर्म-योगके स्वतन्त्र नहीं होसकता। इसलिये साम्प्रति हमें किस प्रकारके कर्मोंको कर्मयोगकी युक्तिसे करना चाहिये। इसबातका स्पष्टीकरण होजाना आवश्यक है। गीताके भक्तों या प्रेमि-योंको संक्षेपमें समझाया जासकता है कि, गीता प्रत्येक कर्मको

साम्यबुद्धिके साथ करनेकी आज्ञा देती है। द्वेष या ईर्षासे किसी भी कार्यको करना गीता पसन्द नहीं करती; अतः भारत परतन्त्रताके दुःखमें मग्न होचुका है और उसे स्वतन्त्र करना हमारा कर्तव्य है। इसके लिये सर्व प्रथम हमें अपना संगठन रूपी कर्मको आसक्ति छोड़कर फलेच्छा रहित करना आवश्यक है। आज हमारा संगठन नहीं है और विशेषता इस बातकी है कि जो संगठन गीताके अनुसार होता चला आरहा है उसे आजकलके विगाड़क तोडना चाहते हैं? वे स्पष्ट कहते है कि जाति पांतिको तोड़दो? वर्णाश्रमको उठादो? नीच ऊँचके भावको छोड़दो? छूत अछूतको भूलजाओ? और हिन्दूमात्र एकहोजाओ? वस्तुतः यह बात सर्वमान्य नहीं है कारण संसारमें सब मनुष्य एक होनेपर भी उनके गुण और कर्मोंके अनुसार हिन्दू, मुसलमान, ईसाई पारसी और यहूदी आदि भिन्न भिन्न भेद विद्यमान है? जब यह भेद किसी विगाड़कसे दूर नहीं होसकतेहैं तब जो भेद एक समाजकी समुन्नति और रक्षाके लिये किये गये हैं उन्हें तोड़देना कितनी मूर्खता है? जैसे किसी जनरल सरकारको अपने साम्राज्यकी व्यवस्था और रक्षाके लिये कई प्रकारकी प्रांतिकसरकारें नियतकरनी पड़ती है और उनके नियमोपनियमोंपर जोर देकर कहा जासकता है कि प्रत्येक सरकारका यही कर्तव्य है कि वह अपनेप्रान्तकेही नियमोंको पालन करना श्रेष्ठ समझे चाहें वे अन्य सरकारोंके नियमोंसे विगुणभी हैं क्योंकि अपने प्रान्तीय नियमोंके पालनमें ही उस प्रान्तीय सरकारकी उन्नति और रक्षा है। ठीक वैसेही हिन्दू समाजरूपी साम्राज्यकी उन्नति और रक्षाके लिये वर्णाश्रम व्यवस्थाकी रचना करनी, पड़ी है और वह रचना किसी मनुष्य या देवताके की हुयी नहीं हैं बल्कि साक्षातपरब्रह्म परमात्मा जगदीश्वरकी कीहुयी है। जो जब-

तक सृष्टि रहेगी तबतक अखण्डस्थिर रहनेका नियम हो चुका है। उस वर्णाश्रम व्यवस्थाको उठादेना हँसी ठट्टाकी बात नहीं है ! कारण भगवान् स्पष्ट कहते है कि--" चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः॥" ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इस प्रकार चारोंवर्णोंकी व्यवस्था गुण और कर्मोंके भेदसे मैंने निर्माणकी हैं। यही कारण है कि " स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः॥" अपने अपने स्वभावजन्य गुणोंके अनुसार प्राप्त होनेवाले कर्मोंमें नित्य रत रहनेवाला पुरुष उसी स्वकर्मसे परमसिद्धि, मोक्षको पाता है इसलिये जातिपांतिको सदैव अक्षुण रखना, वर्णाश्रमको सदा मानना, गुण दुर्गुणोंके कारण ऊंच और नीचका भाव नहीं हटाना, पवित्रता और अपवित्रताके आदर्शपर छूत अछूतका भेद रहने देना और हिन्दूमात्र एकहोनेपर भी एकाकार नहीं करना चाहिये। यही गीताके कर्मयोगकी चातुर्य्यता है। अतएव श्रीमद्भगवद्गीता भी भगवती श्रुतिके अनुसार " कर्मको " पूर्ण, स्वतन्त्र और श्रेयस्कर मानती है। इन सबपर ध्यान रखकर जो मनुष्य हमारे " गीतार्थ प्रबोध" का पठन पाठन करेंगे और तदनुसार आचरण करपायेंगे उन्हें स्पष्ट मालूम होजायगा कि गीता जिस प्रकार ज्ञान और भक्तिसे मोक्षसिद्धकरती है ठीक वैसही कर्मसे मोक्ष होना स्वीकार करती है। इसमें जरा भी सन्देह नहीं है। अस्तु;

बम्बई—
वि.सं.१९८६ पौष कृष्ण
११ एकादशी गुरुवार
ता. २६--१२--२९ई.

बदरीदास पुरोहित.

ॐ तत्सत्।



श्रीमान् पं० बद्रीदासजी पुरोहित.

ॐ तत्सत् ।

ग्रन्थ कर्त्ताका संक्षिप्त परिचय।

श्रद्धेय श्रीमान् पं० बदरीदासजी पुरोहित "वेदान्त भूषण" का जन्म वि. सं. १९४४ भाद्रपदकृष्णा १३ को जोधपुरमें हुआ था। आपका घराना ज्योतिषविद्यामें बहुत प्रख्यात है। आपके पिता श्रीमान् पण्डित काळूरामजी पुरोहित नामी ज्योतिषी थे। इसीसे उनको जोधपुरदरबारसाहबसे और श्रीदरबारके दीवान् मुन्शी हरदयालसिंहजीके द्वारा अच्छी प्रसिद्धि और लाभ हुआ था। "वेदान्त-भूषण" जीके पिता बाल्यावस्थामें ही अपने स्वरूपमें लय होगये थे। परन्तु पुरोहितजीको पुष्करवंशविभूषण श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठ अतीन्द्रियतत्त्ववेत्ता वनस्थ योगीराज श्री १०८ श्री "बनराजजी महाराज श्री" ने संस्कृतकी शिक्षा देकर सांख्य, योग और वेदान्तका सदुपदेश दिया था, वेदस्थकर्म, उपासना और ज्ञान-काण्डका अच्छे प्रकारसे मर्म समझाया, धर्मशास्त्र, श्रुति, स्मृति, गीता और योगवासिष्ठका प्रेमसे पाठ पढाया, काव्य, व्याकरणके अतिरिक्त ज्योतिष रमल और स्वरोदयका खूब अभ्यास करवाया, यही नहीं बल्कि अपने आश्रममें सात वर्षपर्यन्त रखकर वेदान्त, भक्ति और कर्मका गीताके आधारपर स्पष्ट अनुभव करवादिया था। जिससे आपकी प्रतिभा और प्रतिष्ठा बहुत ही बढगयी।

विद्याध्ययन और शास्त्र चिन्तनके पश्चात् "वेदान्तभूषणजी" ने अपने प्रिय पुष्करणा ब्राह्मणोंका अभ्युदयकरनेके लिये वि० सं० १९७२ में सर्वप्रथम जोधपुर मारवाड़ राज्यके दीवान् मेरबानपेस्तमजी "खानबहादुर" से मुलाकातकर श्रीदरबारकी आज्ञासे "पुष्करणा ब्राह्मण" नामक मासिक पत्रको सम्पादनकर प्रकाशित किया था। जिसके अनुसार जोधपुरके दाहिमा, कायस्थ, औसवाल और माली

आदिके समाजोंको भी सामयिक पत्र प्रकाशित करनेका अवसर मिल गया था पुरोहितजीने " पुष्करणा ब्राह्मणके " वि० सं० १९७३ के वैशाखमासकी संख्यामें अखिलभारतवर्षीय " पुष्करणा ब्राह्मण महा-सभा " जैसी उत्तरदायित्वपूर्णसंस्थाकी अपील कर श्रीदरबारसे उसके प्रथमाधिवेशन करनेकी स्वीकृति प्राप्तकी और उन्हें जन्म दिया था उसी " पुष्करणा ब्राह्मणमहासभा " बीकानेरने पुरोहितजीको.स्वजाति-सेवार्थ " स्वर्णपदक " प्रदान कर सम्मानित किया था। पुरोहितजी जिस प्रकार पुष्करणाब्राह्मणोंकी समुन्नतिके लिये सतत प्रयत्न किया एवं करते हैं ठीक वैसे ही मारवाड़ी ब्राह्मण और वैश्यसमाजकी उन्नतिके लिये भी यथाशक्ति परिश्रम किया है। उदाहरणार्थ कलकत्तेमें रहकर " मारवाड़ीब्राह्मण " साप्ताहिक पत्रकी सेवा करना, मारवाड़ी ब्राह्मणसभाके उपसभापतिकी हैसीयतसे मारवाड़ीब्राह्मणों एवं सभा-ओंकी उन्नतिमें सदैव लगे रहना और अखिलभारतवर्षीय " मार-वाड़ीब्राह्मणमहासभा " का कलकत्तेमें महान्‌परिश्रमके साथ अधिवेशन कराना, यही कारण था कि भागलपुरकी "मारवाड़ीब्राह्मणमहासभा" ने आपको प्रधान मन्त्री चुना था परन्तु अग्रवालवैश्यसमाजमें विधवा-विवाहका श्रीगणेश होनेपर कलकत्तेकी अग्रवाल वैश्य पञ्चायतके अनु रोधसे श्रीमानपुरोहितजी मारवाड़ीब्राह्मणमहासभाके प्रधानमन्त्रीका कार्यभार सहकारीमन्त्रीपर छोड़कर वि० स० १९८३ के चैत्रमासमें बम्बई आगये. वेदान्त भूषणजीने बम्बई आकर बहुत जोर शोरसे अवैतानिकरूपसे व्याख्यानों एवं पत्र-लेखादिकोंके सम्पादन तथा प्रकाशन द्वारा विधवाविवाह आदिका खण्डन किया और धर्मप्राण अग्रवाल वैश्यगणोंद्वारा स० ध० मारवाड़ी अग्रवाल पञ्चायत बम्बई की संस्थापना करवायी। तथा बम्बईमें बिगाड़कोंका जोर कमकर सनातन धर्मावलम्बियोंका बल बढादिया। श्रद्धेय--पुरोहितजीका पारि-

श्रम ब्राह्मण और वैश्यसमाजकी समुन्नतिके लिये ही प्रशंसित हो सो बात नहीं है बल्कि आपने कलकत्तेमें रहकर हिन्दूसभा अथवा हिन्दूसमाजकी भी अच्छी सेवा बजायी है " बड़ाबाजार हिन्दूसभाके आप उपसभापति रह चुके हैं और सन् १९२७ ई. में हिन्दूमहासभा दिल्लीकीकार्यकारिणीके सदस्य चुने जाकर दिल्ली पहुंचे थे और वहांपर स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानन्दजीसे विधवाविवाहपर बैसकर उनके प्रस्तावको हिन्दूमहासभामेंसे हटवादिया था। अन्तमें जब स्पर्शास्पर्शके प्रश्नको लेकर हिन्दूमहासभाने अछूतोंका अनुचित पक्षकरलिया तबसे पुरोहितजीने उसमें सहयोग देना बन्द करादिया है। " वेदान्तभूषणजीने " सामाजिक कार्योंको जिस प्रकार अपने जीवनका आवश्यक ध्येय रक्खा है ठीक वैसे ही देशके कार्यौंमें भी आपने भाग लिया है। सर्व प्रथम वि० स० १९७३ में जोधपुर शहरपर पुलीसके अत्याचार बढजानेसे जब प्रजाने हड़ताल करदी थी तब तीन चार दिन पर्यन्त जी जानसे परिश्रम करके पुरोहितजीने " खानबहादुर " दीवान मेरवानपेस्तमजी और प्रजाके नेताओंमें उचित परामर्श करवाकर प्रजाको प्रसन्न रखतेहुए हडतालका अन्त करवादेनेमें विशेष योग दिया था। तदनन्तर जोधपुरके लेटमीनस्टर प०छजूरामजीसाहबके द्वाराभी प्रजाकी अच्छी सेवा करवानेका परिश्रम किया था। फिर कलकत्तेमें रहतेहुए बड़ावाजार कॉंग्रेसके सदस्य बनकर देशकी यथाशक्ति सेवा की। और अन्तमें अभी अखिलभारतवर्षीयदेशीराज्यप्रजापरिषदकी कार्यकारिणीके सदस्य चुने जाकर देशीराज्योंकी प्रजाकी सेवा कर रहे हैं। तथा " मारवाडराज्य प्रजा सम्मेलन " जोधपुरके उपस्वागताध्यक्ष चुने जाकर मारवाड़के राजनीतिकजीवनमें प्रजापक्षके बलकी मात्रा बढारहे हैं।

"वेदान्तभूषण" प० बदरीदासजी पुरोहित समाज और देशके लिये जितना परिश्रम किया है ठीक उतना ही परिश्रम विद्याप्रचार और धर्मप्रचारार्थ किया एवं कर रहे हैं। उदाहरणार्थ वि. सं. १९७२में "योगवासिष्ठ महारामायण" के छ हों प्रकरणोंका दोहा, चौपाई, छन्द सोरठादिमें श्रीतुलसीकृतरामायणकी शैलीसे असाधारण अनुवाद कर प्रकाशित करदिया था; जिसपर मुग्ध होकर जोधपुर दरबारने पुरोहितजीको १७५०रु.) प्रदान किये थे और जोधपुरकी "श्रीसनातनधर्मप्रचारिणीसभा" ने "वेदान्तभूषण" की उच्चउपाधिसे सम्मानित किया पुरोहितजीने कलकत्ते एवं बम्बईमें रहकर धर्मसेवार्थ "धर्मरक्षक" नामक साप्ताहिक पत्रका कई मासपर्यंत अवैतनिकरूपसे सम्पादन व प्रकाशन किया है "पुष्टिकर वेदपाठशाला और पुष्टिकर वेदप्रचारिणी ब्रह्मसभाके सभापति और उपसभापति रहकर द्विजोंमें वेद-प्रचार करनेका सतत प्रयत्न किया है। संध्यापर भाष्य लिखकर और आह्निक कर्मके रहस्यको बतलाकर पुरोहितजीने कलकत्तेसे "आह्निककर्मप्रयोग" "षोड़शसंस्कार प्रयोग" पापपुण्यकी डायरी" और "महारामायण वैराग्यप्रकरण" को राष्ट्रभाषा हिन्दीमें प्रकाशित किया है। वेदप्रचार या धर्म प्रचारकेलिये पुरोहितजीने कई संस्थाओंकों दान दिये हैं जिसमें जोधपुरकी "श्रीसुमेरपुष्टिकर हाईस्कूल" को एक हजार रुपये देकर वेदपाठशालाके लिये हाल बनवादिया है।

वि० सं० १९८३ चैत्रकृष्ण ९ को पुरोहितजी कलकत्तेसे बम्बई आये थे और अवैतानिकरूपसे सात मासपर्यन्त "धर्मरक्षक" साप्ताहिक पत्रका संपादन और प्रकाशनकर बम्बईमें सनातनधर्मकी अच्छी जागृती करदी थी. पुरोहितजीके आनेपर बम्बईमें श्रीमान् ! गोस्वामी श्री १०८ श्रीगोकुलनाथजी महाराज और प्रतिवादी भयङ्क-

राचार्य १०८ श्री अनन्ताचार्यजी महाराज आदिकी अध्यक्षतामें सैकड़ों सभायें हो होकर आज " वर्णाश्रम स्वराज्य संघ " की चर्चा जोर पकड़ रही है जिसका मुझे अत्यन्त हर्ष है। अन्तमें इतनाही कहना बहुत है कि, श्रद्धेय पं० बदरीदासजी पुरोहित " वेदान्तभूषण " महोदय अपने समयको व्यर्थ नहीं गमाते हैं। वे अहर्निश जब कभी अपने व्यावहारिक कार्य जो ज्योतिषद्वारा भविष्यको बिना भेट या फीसके बतलाते हैं उससे छुट्टी पाते हैं तब ग्रंथरचनामें लगजाते हैं। उसीका परिणाम है कि पुरोहितजीने बम्बई आनेके पश्चात् " श्रीमद्भगवद्गीता और अष्टोपनिषदका हिन्दी पद्योंमें अनुवाद पूर्ण कर लिया हैं " और छान्दोग्य तथा बृहदारण्यकके अतिरिक्त "ब्रह्मसूत्रका अनुवाद होरहाहै इन सबसे प्रसन्न होकर " भारतधर्म महामण्डलने प० बदरीदासजी पुरोहितको गतवर्ष " वेदान्त विनोद " की उपाधिसे विभूषित किया है। श्रीमान् मुरलीधरजी चौखानी महोदयकी कृपा या उदारतासे "श्रीगीतार्थप्रबोध" जनताके हितार्थ प्रकाशित होगया है; इसके लिये चौखानी सेठको अनेक धन्यवाद हैं। तथा जगदीश्वर भगवान् श्रीकृष्णसे प्रार्थना है कि जिस प्रकार श्रीमान् मुरलीधरजी चौखानीके हृदयमें प्रेरणाकर " श्रीगीतार्थप्रबोधको " प्रकाशित करवानेकी सर्वसाधारणपर कृपाकी है। ठीक वैसेहि "वेदान्त भूषण " अर्थात् अष्टोपानिषदको प्रकाशित करवानेके लिये किसी धर्मप्राण व्यक्तिके हृदयमें प्रेरणाकर प्रतिग्रह शून्य, तपस्वी और विद्वान् पुरोहितजीके परिश्रमको सफल करें अस्तु।

सूर्यकरण थानवी.

" मन्त्री श्रीपुष्टिकरवेदप्रचारिणी ब्रह्मसभा "

अनन्तबाड़ी बम्बई.

श्रीहरिः।

श्रीमान् सेठ मुरलीधरजी चौखानी महोदयका संक्षिप्त जीवन-चरित्र।

श्रीमान् सेठ मुरलीधरजी चौखानी महोदयका जन्म वि. सं. १९२४ वैशाख शुक्ला ३ अक्षय तृतीयाको जयपुरराज्यस्थ नवलगढ़में हुआ था। श्रीमान्‌के पिता सेठ शिवलालजी चौखानी महोदय व्यापारमें बड़ेही कुशल थे। इससे व्यापारमें अच्छा लाभ किया था। स. १९२२ में "जयनारायण धनराज" के नामसे एक फार्म बम्बईमें खोला था। रुईके कारोबारमें अच्छा लाभ हुआ था। श्रीमान् सेठ मुरलीधरजीके पिता श्री बहुतही छोटी उम्रमें स्वर्गवासी होगये थे। होनहार सेठजीको पिताश्रीका विशेष उपदेश नहीं मिलसका; इसका आपके मनमें बहुत सन्तपा रहा। फिरभी श्रीमान्‌के दिलमें शिक्षा और व्यवसायसम्बन्धकी उत्कंठा सदैव बढ़ती जाती थी। इससे श्रीमान्‌की मातेश्वरी "धापी देवी" महोदयाने आपको उचित एवं समयोपयोगी महाजनी विद्याध्ययन करवानेका अच्छा प्रबंध करदिया था जिससे आपने व्यापार औरउद्योगादिकी विद्याओंका अच्छे प्रकारसे अध्ययन किया और एक व्यापार कुशल विद्वान् हुए। सं० १९३९में जब कि आपकी अवस्था १४वर्षकी थी उसी समय स्वदेश छोड़ परदेश बम्बई आये। व्यापारके केंद्रस्थान बम्बईमें आकर श्रीमान् सेठजीने अपनी बुद्धिका अच्छा विकाश किया। श्रीमान्‌के चाचे सेठ भीखराजजी चौखानी थे प्रथम आप उन्हींके पास रहे; फिर श्रीमान् सेठ दौलतरामजी द्वारकाबगसजी चौखनीकी दुकानपर रहगये। तथा व्यापार एवं वाणीज्य सम्बन्धी छोटेसे कार्यको लेकर सर्वोपरि कार्य करदिखाया था।



सेठ मुरलीधरजी चौखानी.

श्रीमान्‌ने छोटी उम्रसे ही कपड़ा, किराणा, गल्ला, अफीम, सोना, चान्दी और रुईके व्यापार बहुतही चतुराईसे किया; जिससे मालकोंको अच्छा लाभ हुआ था। आपमें यह विशेषता थी कि, आप बचपनसे ही धर्म चुस्त थे। प्रतिदिन स्नान संध्या हवन, तर्पण और देवपूजादि किये बिना अन्यकामको हाथमें नहीं लेते थे. श्रीमान्‌को विघ्नहरण, ऋद्धि और सिद्धिके प्रदाता भगवान् श्रीगणेशजीका इष्ट है। इससे आपकी बुद्धि बहुतही अच्छा काम देती है और दिनोदिन व्यापार आदिमें श्रीमान्‌का अभ्युदय होता चलाआता है। इष्ट बली होनेसे आपके प्रत्येक कार्यसीधे होते थे जो व्यापार करते थे उसमें लाभ ही होताथा। इससे श्रीमान् सेठजीने बहुत धन प्राप्त किया छोटी अवस्था और धन पैदाकरनेके अतिरिक्त स्वतन्त्र होने परभी हमारे श्रीमान्‌ने अपने कनिष्ठ भ्राताका ही प्रथम विवाह किया और उसमें अपने परिश्रमसे पैदा किये धनका सदुपयोग किया। तदनन्तर सं० १९४४ में श्रीमान्‌ने अपना विवाह श्रीसेठ-खेतसी दासजी चौदरीकी शुभकन्यासे किया। श्रीमान्‌की धर्मपत्नी "मोरी देवी" महोदया शील, गुण और रूपमें आदर्शमहिला है। विवाह करनेके पश्चात् आपके कनिष्ठ भ्राताकी सं० १९४६ में असामयिक मृत्यु होगयी उससे आपके अन्तः करणमें बहुत ही दुःख हुआ; और बम्बईसे देश चलेगये थे। ४ मासके पश्चात पुनः बम्बई लौटे और आपने "देवकरणदास रामकुवार" के फार्मका सम्पूर्ण भार अपने शिरपर लिया तथा पूर्ण अधिकारके साथ आपने दूकानदारीको खूब अच्छी प्रकारसे जमायी। आप रुईके काममें बहुत ही प्रसिद्ध व्यापारी हैं। आप दो वर्षतक क्लीरिङ्गहाउसके डाईरेक्टर भी रह चुके है। आपने मालकोंका रुईका जत्था भी खोलरखा है। श्रीमान् सेठजीने २७ वर्षतक सेठ "देवकरण दास-रामकुमार" के फार्ममें

सर्वोसर्वा पूर्ण मुक्तियारीके साथ काम किया था। श्रीमान्‌को नाणासम्बन्धी कामोंका अच्छा अनुभव है। बेङ्क और सराफी कार्योंमें आपका ज्ञान बहुत ही अच्छा है। इससे आपकी बेङ्कों और सराफोंमें अच्छी प्रतिष्ठा है। हमारे श्रीमान्‌ने अपने सेठजीको धनका अच्छा लाभ पहुंचाया। सं० १९६० में "जमनाफ्लोर" नामकी एक मील खोलीगयी थी जो श्रीमान् मुरलीधरजी सिंहानिया-देवकरणदासजीके जमाई थे उनके हिसाबमें थी, महत्वपुर्ण कार्योंको करतेहुये वि० सं १९६७ तक आप श्रीमान् सेठ देवकरणदास-रामकुवारके यहां रहे। आप पर सेठ देवकरणदासजीकी बहुत ही कृपा रही आपका उनके हृदयमें मान था. अस्तु।

वि० सं० १९६८ में हमारे श्रीमान् सेठजी "गोरखरामसाधुराम" गोयन्दका खुर्जानिवासीमहोदयके फार्ममें मुक्तियारकार अर्थात अधिकार सम्पन्न मुनिम हुए थे जिसके कार्यको आज पर्यन्त अच्छे प्रकारसे चलारहे हैं। आपने मारवाड़ीचेम्बर आफ कॉमर्शीयलकी स्थापनादिके कार्योंमें उल्लेखनीय भाग लिया है। लडाईके समय अर्थात् युरोपीयमहायुद्धके समय जो सरकारने रुईका कंट्रोल करके बोर्ड कायम किया था उसमें भी आपने अच्छा सहयोग-दिया, और क्लीअङ्गहाउसके डायिरेक्टर भी आप रहे थे "गोरख-रामसाधुराम" फार्मके मालीक श्रीमान् सेठ तोलारामजी कन्हैयालालजी एवं गौरीशङ्करजी गोयन्दकामहोदयोंकी आप पर बहुत कृपा है। इसीसे हमारे श्रीमान् बम्बईके फर्मका उत्तरदायित्वके साथ अधिकारपूर्णकार्यकरते हैं। बराड़ आदिके दिशावरोंपर भी कन्ट्रोल देखरेख रखते हैं। श्रीमान् विशेष रूपसे अंग्रेजी नहीं पढे हैं फिर भी कामसे पूरे विज्ञ हैं। आप अपने मालिकके बहुत

हो हितचिन्तक हैं। बड़ी महनतके साथ कार्यकरते है। आप जबसे "गोरखरामसाधुरामके" यहां आये हैं तबसे मालीकको मीलों और कारखानोंमें बड़ा लाभ हुआ है।

आपने समाजके कामोंमें भी बहुत योग दिया है। बम्बईमें "अग्रवालपञ्चायत" की संस्थापनामें आपने अग्रसरका काम किया है। श्रीमानूने महासभावालोंके साथ बहुत परिश्रमकरके सब काम जमानेकी चेष्टा की थी, परन्तु जब महासभावाले नहीं माने तब पञ्चायतकी संस्थापनाकी, और पञ्चायतके प्रथमाधिवेशन एवं द्वितीयाधिवेशनमें भागलेते आ रहे हैं। आपने मारवाड़ी अग्रवालपञ्चायतकी तर्फसे अग्रवालवैश्य भाइयोंके भोजनार्थ एक "भोजनालय" खुलवानेमें आगे आकर भागलिया है। तथा सदैव उसकी देखरेखरखनेका भार उठाया है। हमारेश्रीमान् सेठजी सनातनधर्मावलम्बीय मारवाड़ी ब्राह्मण पञ्चायतके पृष्टपोषक है। अतएव भगवान् गणेशजी श्रीमानूको चिरायुकरें यही हमारी जगदीश्वरसे प्रार्थना है.

कृष्णदत्त पुरोहित.

ॐ तत्सत् ॥

श्रीहरिः ।

विशेष वक्तव्य-

अखिल ब्रह्माण्ड-नायक भगवान् श्रीकृष्णने सांसारीजीवोंपर दया करके अपने परम प्राचीन जिस "कर्मयोग" को द्वापरके अन्तमें अर्थात् भारतीय युद्धके प्रारंभमें अर्जुनको निमित्त पाकर कहा था उसे वेदव्यासजीने ७०० श्लोकोंमें प्रणयन कर लोगोंमें किसप्रकार प्रचार किया उसे कहते हैं कि श्रीमद्भगवद्गीताके नामसे जो उपदेश प्रख्यात है उसकी परम्परा वर्तमान महाभारत ग्रन्थमें इस प्रकार दी गयी है कि " युद्ध आरंभ होनेसे प्रथम व्यासजीने धृतराष्ट्रसे जाकर कहा कि यदि तुम्हारी इच्छा युद्ध देखनेकी हो तो मैं तुम्हें दृष्टि देताहूं, इसपर धृतराष्ट्रने कहा कि मैं अपने कुलका क्षय अपनी दृष्टिसे नहीं देखना चाहता. तब एक ही स्थानपर बैठे बैठे सब बातोंको प्रत्यक्ष ज्ञान होजानेके लिये सञ्जय नामक सूतको व्यासजीने दिव्य दृष्टि दे दी. इस सञ्जयके द्वारा युद्धके अविकल वृत्तान्त धृतराष्ट्रको अवगत करा देनेका प्रबन्ध करके व्यासजी चले गये। जब आगे युद्धमें भीष्म आहत हुये और उक्त प्रबन्धके अनुसार समाचार सुनानेके लिये पहले सञ्जय धृतराष्ट्रके पास गया तब भीष्मके बारेमें शोक करते हुए धृतराष्ट्रने सञ्जयको आज्ञा दी कि युद्धकी सारी बातोंका वर्णन करो ? तदनुसार सञ्जयने पहले दोनों दलोंकी सेनाओंका वर्णन किया और फिर धृतराष्ट्रके पूछनेपर गीता बतलाना आरंभ किया है। आगे चलकर यही सब वार्ता व्यासजीने अपने शिष्योंको उन शिष्योंमेंसे वैसम्पायनने जन्मेजयको और अन्तमें सौतीने शौनकको सुनाई है। श्रीमद्भगवद्गीता महाभारतकी सभी छपी हुई पुस्तकोंमें भीष्म पर्वके २५ वे अध्यायसे ४२वें अध्यायतक कहीगयी है। इन अठारह अध्यायोंमें पहलाध्याय (१) अर्जुनविषाद योग है.

(२) सांख्ययोग (३) कर्मयोग (४) ज्ञानकर्मसंन्यासयोग (५) सन्यासयोग (६) ध्यान योग (७) ज्ञानविज्ञान योग (८) अक्षर ब्रह्मयोग (९) राजविद्याराजगुह्ययोग (१०) विभूति योग (११) विश्वरूप दर्शनयोग (१२) भक्तियोग (१३) क्षेत्रक्षेत्रज्ञविज्ञान योग (१४) गुणत्रय विभागयोग (१५) पुरुषोत्तम योग (१६) दैवासुरसम्पद्विभागयोग (१७) श्रद्धात्रय विभागयोग और (१८) मोक्ष संन्यास योग है।

श्रीमद्भगवद्गीतापर कई भाष्य और टीकायें संस्कृतमें प्रकाशित होगयीं हैं परन्तु राष्ट्रभाषा हिन्दीमें विशेषतः हिन्दी पद्योंमें कर्मयोगको प्रधानस्थानदेनेवाला "गीतार्थप्रबोध" अद्यावधि प्रस्तुत नहीं हुआथा। वह भगवान् श्रीकृष्णकी प्रेरणा एवं श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठ अतीन्द्रियतत्ववेत्ता योगीराज सद्गुरुश्री १०८ श्रीवनराजजी महाराजश्रीकी कृपासे बडे परिश्रमके साथ तैयारकर गुरुमहाराजकेही "समर्पण" किया गयाहै जो भगवान् श्रीशङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य और श्रीधरीआदिसंस्कृत-भाष्य एवं टीकाओंके अवलोकनके पश्चात भारतधर्ममहामण्डलकी गीतार्थप्रदीपिका और भगवान् बालगङ्गाधरतिलकमहाराजके "गीतारहस्य" के अध्ययन एवं मननसे पद्यरचनाकरके "गीतार्थप्रबोध" को प्रस्तुत किया था। परन्तु बिना किसी भगवद्भक्त श्रीमान्‌की सहायताके इसे छपवाकर सर्वसाधारणके समक्ष रखना कठिन था । भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी दयासे श्रीमान्--सेठमुरलीधरजी चौखानीमहोदय जिनका संक्षिप्त परिचय अन्यत्र प्रकाशित है उन्होंने हमारे परिश्रमको सफल करना सहर्ष स्वीकार करलिया और "गीतार्थप्रबोध" को अपने व्ययसे छपवाकर भगवद्भक्तोंमें १००० पुस्तकें अमूल्य वितीर्ण करनेकी सदिच्छा प्रकटकी है। अतएव श्रीमान्--चौखानी महोदयको भूरि

भूरि धन्यवाद देकर भगवान् श्रीकृष्णसे प्रार्थना है--प्रभो! जिसगीतोपदेशके प्रचारार्थ अपने प्रतिज्ञा की है उसे कार्यमें परिणतकर हमें कृतार्थ करें और हमारे श्रीमान् सेठ मुरलीधरजीको श्रीचरणोंकी भक्ति प्रदानकर सुखी करें।

अन्तमें श्रीमान् सेठश्रीनिवासजी बजाज मालिक " श्रीखेमराज श्रीकृष्णदासस्टीम्प्रेस " को भी हार्दिकधन्यवाद है जिन्होंने इस पुस्तकको प्रकाशित करवानेमें हमें प्रशंसनीय सहाय दिया है।

बम्बई।
पौषकृष्ण. १० बुध१९८६वि.सं.
२५-१२--२९.ई.



प्रकाशक-
बदरीदासपुरोहित.



ॐ तत्सत्

श्री गीतार्थ प्रबोध-उपोद्घात ।

प्रिय ज्ञान श्रद्धा भक्ति सुखकर राजपथ[1]को है लिये ।
समबुद्धि जितनी होसके कर लोकसंग्रह[2]के लिये ॥
निजधर्मके अनुसार अपना कर्म मरतेतक करें ।
समबुद्धिसे मनुष्यत्वके आदर्शका पालनकरें ॥ १ ॥
कर्तव्य है हरएक नरका यही उत्तम सुख कहा ।
कल्याण इह[3] परलोकका है इसीमें उसका रहा ॥
औ उसे मोक्षकि प्राप्तिके हित कर्म तजकर बैठना ।
या अन्य कोई कार्यका अनुष्ठान करके ऐंठना ॥ २ ॥
है नहीं इनकी जरूरत श्री कृष्णके आदेशको ।
सम्पूर्णगीताशास्त्रका फलितार्थ है हर क्लेशको ॥
इस कर्मयोगप्रधान गीता धर्मसे करते सभी ।
परब्रह्मका साक्षातदर्शन मुक्तजीवन हो तभी ॥ ३ ॥
यह तत्त्वज्ञान न पार्थको था शोक मोह उफान[4]से ।
स्वविवेकका किय नाश जिससे क्षात्रधर्माऽज्ञानसे ॥
निजधर्म तज पर धर्मभिक्षा मांगना स्वीकार था ।
उस पार्थके मिसें[5] विश्वहितप्रद कृष्णका उद्गार था ॥ ४ ॥
सब विश्व जिनके चरणरजकी वन्दना करता सदा ।
वे दया मय परब्रह्म प्रकटे कृष्ण हो जगहित तदा[6] ॥

---

१ राजमार्ग । २ भलीभांति धारण पोषग पालन या बचाव करना अर्थात् सारे जगतको सन्मार्गपर लाकर उनको नाशसे बचाते हुए संग्रहकरना । ३ इस लोक ओर परलोकका । ४ वेगसे । ५ अर्जुनके बहानेसे । ६ द्वारपरयुगमें ।

निज कर्म ज्ञान रु भक्तिकी इक नाव दे उपदेशकी ।
संसारसागरसे तिराते सीख दें स्वोद्देशकी[1] ॥ ५ ॥
प्रियपार्थमिस उद्धार जिसने अनेकोंका हैं किया ।
उस कृष्णवाणीको मुनीश्वरव्यासने जो रचादिया ॥
कल्याणप्रद आदर्श गीताशास्त्र वह जगसार हैं ।
दें सात सौ शुभश्लोक जिनमें अधिक कृष्णोद्गार हैं ॥ ६ ॥
कुछ श्लोक पूर्वापरविषयकी अर्थसंगतिके लिये ।
मुनिव्यासने रचके स्वयं ही यथाक्रमसे[2] रखादिये ॥
दें वही गीताग्रन्थ यह जो ज्ञान कर्मोपासना ।
त्रय काण्ड श्रुति आदेश सम कर मोक्ष जैसी भावना ॥ ७ ॥
ज्यों छूटता मल स्नानजलसे नित्यप्रति है नर करे ।
त्यों विश्वका मल नष्ट गीताअंभमें[3] सकृद[4] परे ॥
हैं शास्त्रगीता पुण्यप्रद जो यत्नसे पढते इसे ।
नर शोक भयसे मुक्त होता विष्णुपद[5] मिलता उसे ॥ ८ ॥
अतएव गीताशास्त्र एकहि देवकी सुतने कहा ।
श्रीकृष्ण ही है देवता इकै भक्त वत्सल गुरु रहा ॥
हैं मन्त्र एकहि नाम उनका विश्व पावन[6] मोक्ष दें ।
हैं कर्म एकहि " दास बदरी " कृष्ण सेवा सौख्य दें ॥ ९ ॥
ॐ तत्सदिति गीतार्थप्रबोध उपोद्घात समाप्तम् ।

---

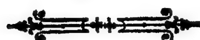
१ अवतारधारणकर पृथ्वीपर धर्मकी सस्थापना, साधुओंका रक्षण और दुष्टोंके विनाशको स्वकीय सत्कर्मसे करनेका प्रयोजन । २ सिलसिलेवार । ३ जलमें । ४ एकबारभी स्नान करनेसे । ५ मोक्षधाम । ६ संसारको पवित्र करनेवाला ।

॥ श्रीः ॥



गीतार्थप्रबोध-

विषयानुक्रमणिका।



क्रमांक.	विषय.	पृष्ठांक.

प्रथम अध्याय।

द्वितीय अध्याय।

क्रमांक.	विषय.	पृष्ठांक.

तीसरा अध्याय।

पाञ्चवां अध्याय।

छठा अध्याय ।

सातवाँ अध्याय ।

आठवाँ अध्याय ।

नवाँ अध्याय।

क्रमांक.	विषय.	पृष्ठांक.

ग्यारहवाँ अध्याय ।

ॐ तत्सदिति विषयानुक्रमणिका समाप्त।

ॐ तत्सत्।

ॐ तत्सत्

श्रीगीतार्थप्रबोध.

प्रथमोऽध्यायप्रारंभः



अर्जुन विषादयोग.

सञ्जयसे धृतराष्ट्रका प्रश्न १.

धृतराष्ट्र उवाच ।

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ॥
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने यों कहा सञ्जय ! धर्मभू कुरुक्षेत्रमें ।
एकत्र युद्धेच्छुक हुए जो वीरवर रणक्षेत्रमें ॥
मम और पांडव--पुत्रगणने " क्या किया " बतलाइये ।
वे पुण्यभू पा लडे या की, एकता समझाइये ॥ १ ॥

" दुर्योधनका द्रोणाचार्यसे दोनों दलोंकी सेनाओंका वर्णन करना " २--११.

---

१ संजय अर्थात् रागद्वेष आदिको जय किये हुए. २ कौरव पाण्डवोंके पूर्वज कुरुराजाको इन्द्रने वरदान दिया था कि, जो इस भूमिमें तपस्या द्वारा या युद्ध करते करते प्राणत्याग करेंगे उनको विशेष सद्गति प्राप्त होगी. इसीलिये कुरुक्षेत्र धर्मक्षेत्र कहलाता है ।

सञ्जय उवाच।

दृष्ट्वा तु पांडवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा॥
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

जब देख व्यूढं[1] पाण्डवोंकी सैन्य दुर्योधन गये।
आचार्य द्रोणहि पास राजा वाक्य यों वर्णन किये ॥ २ ॥

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ॥
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

आचार्य! पाण्डव-सुवनकी यह सैन्य महती देखिये।
तव शिष्य धीमन द्रुपद-सुतकी व्यूह रचना पेखिये ॥ ३ ॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ॥
युय्युधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥

है शूर इसमें धनुर्धर महा भीम अर्जुन से बली।
हैं सात्यकी रु विराट द्रुपद महारथी सब रणबली ॥ ४ ॥

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ॥
पुरुजित्कुंतिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥ ५ ॥

औ धृष्टकेतु चेकीतान हि बली-काशीराज है।
नप कुन्तिभोज हि वीर पुरुजित शैब्य नरासिरताज है ॥ ५॥

युधामन्युश्च विक्रांत उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ॥
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

बलवान योद्धा युधामन्यु रु उत्तमौजा है बली।
अभिमन्यु औ हैं द्रौपदीसुत महारथी सारे बली ॥ ६ ॥

---

१ व्यूहरचनासे सजी हुयी।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ॥
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥

हे द्विजोत्तम[1] ! ये श्रेष्ठ मेरे सैन्य-नायक हैं उन्हें ।
अब जानिये संज्ञार्थ[2] तुम्हरे नाम कहता हूं जिन्हें ॥ ७ ॥

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ॥
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैवच ॥ ८ ॥

हैं आप[3] भीष्म रु कर्ण विजयी—कृपाचार्य महान हैं ।
गुरुपुत्र वीर विकर्ण भाई भूरिश्रवा सुजान हैं ॥ ८ ॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ॥
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

हैं शूर जयद्रथ आदि बहु जो मुझे जीवन दे खड़े ।
ले मारनेके शस्त्र नाना युद्धको[4] विद आ अड़े ॥ ९ ॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ॥
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥

है हमारा बल भीष्मरक्षित अपारि[5]मित इससे यही ।
पर इनोंका बल भीमरक्षित इसीसे परिमित सही ॥ १० ॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ॥
भीष्ममेवाभिरक्षंतु भवंतः सर्व एव हि ॥ ११ ॥

सब अयन[6]में स्थित यथा[7]भाग रु आप सब मिलकर करें ।
इन भीष्मकीही नित्य रक्षा प्रार्थना मम हिय धरें ॥ ११ ॥

---

१ हे आचार्य ! २ ठीक ठीक जाननेके लिये । ३ द्रोणाचार्य । ४ रणमें चतुर ।
५ सब प्रकारसे अजेय है । ६ मोर्चोंपर । ७ अपनी अपनी जगहोंपर ।

"युद्धके समारंभमें परस्पर सलामीके लिये शंखध्वनि" १२-१९

तस्य संजनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः॥
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखंदध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

कुरुवृद्ध भीष्म प्रतापवान हि पितामह उसके लिये।
कर जोरसे सिंहनाद[1] फूंका शङ्ख मुद करते हुये ॥ १२ ॥

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः॥
सहसैवाभ्यहन्यंत स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ १३ ॥

तब शंख भेरी पणव आनक गोमुखा सहसा बज।
जिनका हुआ था तुमुलरव पर क्षोभ किंच न रिपु सजे॥१३॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यंदने स्थितौ॥
माधवःपांडवश्चैवदिव्यौशंखौप्रदध्मतुः ॥ १४ ॥

फिर श्वेतहय[2]से युक्त महरथ कृष्णअर्जुन थित हुए।
दुहिं दिव्यशंखोंको बजाये उच्चस्वरसे खुश हुए ॥ १४ ॥

पांचजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः॥
पौंड्रं दध्मौ महाशंखंभीमकर्मावृकोदरः ॥ १५ ॥

हृषिकेश फूंका पाञ्चजन्य रु देवदत अर्जुन लिया।
फिर भीमकर्मा भीम पौंड्र महाशंख बजा दिया ॥ १५ ॥

अनंतविजयं राजा कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः॥
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥

---

१ सिंहकी समान बडी गर्जनाकर। २ घोड़े।

कुन्तीसुवन नृप युधिष्ठिरने अनन्तविजय शङ्खको ।
ले नकुल सहदेवहि बजाया सुघोष रु मणिपुष्पको ॥ १६ ॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ॥
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ १७ ॥

महधनुर्धारी काशिराज रु शिखण्डी महारथी रहैं ।
फिर धृष्टद्युम्न विराट अजेय सात्यकी यादव कहैं ॥ १७ ॥

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ॥
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुःपृथक्पृथक् ॥ १८ ॥

सौभद्र[1] द्रुपद रु द्रौपदेयाँ[2] महाबाहो महीपते ।
सबने बजाये पृथक् पृथक हि शङ्ख यों पृथ्वीपते ॥ १८ ॥

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ॥
नभश्च पृथिवीं चैव तुमलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥

वह तुमुलघोष अशेष नभ भू पूर्णथा प्रतिध्वनि लिये ।
धृतराष्ट्र पुत्रोंके हृदय शरविद्ध जैसे कर दिये ॥ १९ ॥

"अर्जुनका रथ आगे आनेपर सैन्यनिरीक्षण" २०–२७

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ॥
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पांडवः ॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ॥ २० ॥

अथ भूपते[3] ! उस कपिध्वजने[4] कौरवोंको स्थित हुए ।
दिख शस्त्रचलनेके समय शर धनुषपर धरते हुए ॥

---

१ अभिमन्यु । २ द्रौपदीके पांच पुत्र । ३ हे धृतराष्ट्र ! ४ जिसकी ध्वजामें महावीर हनुमान हैं ।

हृषिकेशसे यों वाक्य बोला इष्ट साधनके लिये ।
जो कृष्ण आज्ञा विना अर्जुन कार्य कुछभी नहिं किये ॥२०॥

॥ अर्जुन उवाच ॥

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ॥२१॥

अच्युत[2] इन्ही द्वय सैन्यके बिच मोर रथको स्थिर करो ।
स्थित युद्ध इच्छालिये इनको देखलूं जबतक धरो ॥ २१ ॥

कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ॥२२॥
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

इस युद्धकृतमें कौनके सह झगड़ना होगा मुझे ।
दुर्बुद्धि दुर्योधनादिकके कौन हित करता मुझे ॥ २२ ॥
हैं दीखते रणमें अहो ये भूपगण आये उन्हें ।
मैं युद्धकरने-योग्यको यहाँ देखलूं सम्यक् जिन्हें ॥ २३ ॥

॥ संजय उवाच ॥

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ॥
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥

यों गुडाकेश[3]हि कहा भारत[4] ! कृष्ण सुनतेही किया ।
दुहिं सैन्यके बिच श्रेष्ठ-रथको खडा सबने लख लिया ॥२४॥

---

१ इन्द्रियोंके ईश या प्रेरक प्रभु । २ वे स्वयं अच्युत अपने अधिकारसे नहीं गिरते और न अपने भक्तोंको गिरने देते हैं । ३ गुडाका–निद्रा, प्रमाद और आलस्यके ईश जीतनेवाले अर्जुनने । ४ हे धृतराष्ट्र !

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ॥
उवाच पार्थ पश्यैतान्समेवतान्कुरूनिति ॥ २५ ॥

रथ भीष्म द्रोण रु नृपति-गणके सामने रख यों कहा ।
हे पार्थ[1] ! देखों कौरवोंको इकट्ठे सारे यहाँ ॥ २५ ॥

तत्रापश्यात्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ॥
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा॥

दुहिं सैन्यभीतर युद्धके हित पिता[2] दादा[3] स्थित रहें ।
आचार्य[4] मातुल[5] भ्रातृ[6]-सुत[7] अरु पौत्र[8] मित्र[9] जिन्हें कहें ॥२६॥

श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ॥
तान्समीक्ष्यसकौंतेयः सर्वान्बंधूनवास्थितान् ॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ॥ २७ ॥

हैं श्वशुर[10]-सुहृदहि[11] खड़े अर्जुन देख स्वजनोंको वहां ।
दुहिं-पक्षके आत्मीय पूज्य रु मित्र स्नेहीको यहां ॥
रणमें खड़े सब बन्धुओंको पार्थने देखा जभी ।
अत्यन्त करुणाऽविष्ट होकर दुखित चित बोले तभी ॥ २७ ॥

"दोनों सेनाओंमें अपनेही बांधव हैं, इसको मारनेसे कुलक्षय होगा—यह सोचकर अर्जुनको विषाद हुआ" २८–३७

---

१ पृथा स्त्रीके सम्बन्धसे पार्थ कहा । २ भूरिश्रवादि ३ भीष्म सोमदत्तादि । ४ द्रोण कृपादि । ५ शल्य शकुनि आदि । ६ दुर्योधनादि ७ लक्ष्मणादि । ८ लक्ष्मणादिके पुत्र ९ अश्वत्थामा जयद्रथादि । १० द्रुपदादि । ११ कृतवर्मादि ।

॥ अर्जुन उवाच ॥

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ॥२८॥
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ॥ २९ ॥
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ॥३०॥

हे कृष्ण ! रणमें स्वजन गण ये युद्ध इच्छुक हैं खड़े॥
तिहिं देखकर सब अंग मेरे शिथिल मुख सूखरु खड़े– ॥२८॥
सब रोम होते कम्प तनुमें हाथसे गिरता मही– ।
गाण्डीव धनु त्वच भी रही जल ठहर सकता मैं नहीं ॥२९॥
मनभी हमारा घूमता है शकुन उलटे होरहैं ।
यह वाम चखभी स्फुरण होता दुःखप्रद केशव[1] ! कहैं ॥३०॥

नच श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥
न कांक्षे विजयं कृष्ण नच राज्यं सुखानि च ॥
किं नो राज्येन गोविंद किं भोगैर्जीवितेन वा॥३२
येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानिच ॥
त इमेवस्थितायुद्धे प्राणांस्त्यक्त्वाधनानिच॥३३॥

---

१ आप केशिदैत्यको मारनेके कारण केशव कहलातेहो अतः मेरे हृदयके शोक-रूपी दैत्यका नाश करो ।

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ॥
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबंधिनस्तथा ॥
एतान्न हंतुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ॥
अपित्रैलोक्यराज्यस्यहेतोः किंनु महीकृते ॥ ३५ ॥

हे कृष्ण[1] ! रणमें मार स्वजनहि श्रेय मैं नहीं देखता ।
जय लाभको चाहौं नहीं औ राज्यसुख नहीं झेलता ॥
गोविन्द[2] ! जिनके अर्थ हम जो राज्य भोग रु सुख चहैं ।
आचार्य पितर सुपुत्र--गण वे पितामह रणमें रहैं ॥
हैं पौत्र मातुल श्वशुर श्याले कुटुम्बीगण ये सभी ।
धन प्राण आशा छोड़ करके युद्ध हित स्थित हैं अभी ।
इससे हमें क्या राजसे अरु भोगसे मतलब विभो[3] ॥
है क्या प्रयोजन जीवनेसे अहो मधुसूदन[4] ! प्रभो ।
यदि वे हमें हैं मारते तब भी न हम मारें कभी ।
जो राज्य मिल त्रैलोक तब क्या भूमि हित मारें सभी।३१-३५

निहत्यधार्तराष्ट्रान्नः काप्रीतिःस्याज्जनार्दन ॥
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥

हे जनार्दन[5] ! धृतराष्ट्रके सुत मारकर हमको अहो ।
सन्तोष होगा क्या हमें इस बातको तुमभी कहो ? ॥
इन आततायी[6] बन्धुओंको मारनेसे अघ कहै ॥ ३६ ॥

---

१ भक्तोंके सब दुःखोंके आकर्षक (खींचलेने) वाले । २ इन्द्रियोंके स्वामी । ३ सर्वव्यापक । ४ मधुकैटभ दैत्यको मारनेवाले । ५ प्रलयकालमें जनोंको मारदेनेसे ही जनार्दन कहते हैं अतः कौरवोंको मारना हो तो तुमही मारलो. ६ हत्यारे ।

तस्मान्नार्हावयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबांधवान् ॥
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याममाधव ॥३७॥

इस लिये माधव ! स्वजन कौरव योग्य हंतु न हम रहै ।
हे कृष्ण ! होंगे मारकर हम स्वजनको कैसे सुखी ।
अत एव तुम मुझको बचाओ पापकृतसे हूं दुखी ॥ ३७ ॥

"कुलक्षय प्रभृति--पातकोंका परिणाम" ३८-४४.

यद्यप्येते न पश्यंति लोभोपहतचेतसः ॥
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३८ ॥

यदि राज्य लोभ--विभ्रष्ट मति ये दोष कुलक्षयको नहीं ।
जो देखते हैं मित्रद्रोहहिं पापको भी यह नहीं ॥ ३८ ॥

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ॥
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्याद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥

पर जनार्दन ! कुलनाशसे हो दोष उसको देखते ।
हम पापसे तब क्यों न बचते अहो इसको समझते ॥ ३९ ॥

कुलक्षये प्रणश्यंति कुलधर्माःसनातनाः ॥
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥

कुल नाशसे इस सनातन कुल धर्मका भी नाश है ।
फिर धर्म क्षयसे अधर्मसे ही सर्व कुलका ग्रास है ॥ ४० ॥

---

१ मा—लक्ष्मी, धव—पति अतः हे माधव ! तुम मुझे इस प्रकार लक्ष्मीहीन श्रीहीन आत्मीय वधरूप पापके कार्यसे रोकें अर्थात् प्रवृत्त न करें ।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यंति कुलस्त्रियः॥
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः॥४१॥

हे कृष्ण! जब कुल पापद्वारा ग्रास होता है सभी।
कुलकी[1] स्त्रियों तब बिगड़के वार्ष्णेय[2]! संकर[3] हो तभी॥४१॥

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च॥
पतंति पितरो ह्येषां लुप्तपिंडोदकक्रियाः॥४२॥

कुल नारियाँ हों दुष्ट उनसे वर्णसङ्कर होत हैं।
कुलमें हुयी सङ्करप्रजा कुल[4]-घातकोंकी मोत है॥

---

१ कुलकी स्त्रियां तभी बिगड़ती हैं जब कुलमें पतिव्रतधर्म नष्ट होकर विधवा-नाता होने लगजाता है। इसी लिये अर्जुन उसकी घोर निन्दा करता है कारण विधवा-नातेसे वर्णसंकर होते हैं। अतः इसका द्विजोंको सदैव बहिष्कार कर देना श्रेष्ठ हैं और जो कोई द्विज ऐसा नीचकर्म करे उसे दण्ड देना चाहिये। ताकि कुलकी स्त्रियां बिगड़नेसे बचजाय तथा संकरसृष्टि रुकजाय। २ हे यदुवंशोद्भव कृष्ण! ऐसा कहनेसे वंश या कुलका महत्त्व सूचितकर स्वकुलनाशसे बचानेकी विनय करताहै कि,

"अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः। क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते ह्याततायिनः॥
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्। नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन॥"

घरमें अग्निलगानेवाला, विष देनेवाला, शस्त्र हाथमें लेकर मारनेको आनेवाला, धनहरण करनेवाला, भूमि हरण करनेवाला, स्त्री हरण करनेवाला, ये छः प्रकारके आततायी होते हैं। ऐसे आततायीको विना विचारे ही मार देना चाहिये; इससे मारनेवालेको कोईभी पाप नहीं लगता। किन्तु अर्जुनने–

"स एव पापिष्ठतमो यः कुर्यात् कुलनाशनम्॥"

कुल नाश कारी पापी होताहै इत्यादि धर्मशास्त्रके विचारसे यह कहते हैं॥

३ व्यभिचारिणी या विधवा होकर नाताकरनेवाली हो जाती हैं। ४ "यत्र त्वेते परिध्वंसा जायन्ते वर्णदूषकाः॥ राष्ट्रिकैः सह तद्राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति॥"--

जो नरकका कारण बने कुलनाशकोंके पितरभी ।
हो लुप्त पिण्डोदक क्रियासे पतित बनजाते सभी ॥ ४२ ॥

दोषैरतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ॥
उत्साद्यंते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४३॥

कुलनाशकोंके वर्णसङ्कर-कारकं इस दोषसे ।
सब जाति धर्म रु स्वकुल धर्महि नष्ट हों चिर रोषसे ॥ ४३ ॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ॥
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥

हे जनार्दन ! कुलधर्म जिनके नाश सारे होगये ।
वे पुरुष नित्यहि नरकवासी शास्त्र गुरु कह होगये ॥ ४४ ॥

" युद्ध न करनेका अर्जुनका निश्चय और धनुर्बाण त्याग " ४५--४७.

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ॥
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५ ॥

बत स्वजन क्षयहित अहो हम यह महा अघ करने लिये ।
उद्यत हुये हैं राज्यसुखके लोभसे रणके लिये ॥ ४५ ॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ॥
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥

आत्मीय जनको मारने हम आज प्रस्तुत हैं हुए ।
हूँ सामना करता न अशस्त्री शस्त्रधारी स्थित हुए ॥

--अर्थात जहां वर्णसंकर प्रजा उत्पन्न होती है वहांपर राष्ट्रवालोंके साथ राष्ट्रका शीघ्रही नाश होजाताहै ।

धृतराष्ट्रसुत यदि मारदे रण क्षेमतर हो मम यही ।
कुलनाश दुष्परिणामसे यों बोलता अर्जुन सही ॥ ४६ ॥

॥ संजय उवाच ॥

एवमुक्त्वाऽर्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ॥
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४७ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अर्जुनविषाद-
योगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र ! अर्जुन बोल यों रण चाप शरको तजदिये ।
हो शोक व्याकुलचित्त बैठा, स्वरथ पिछले स्थल लिये ॥४७॥

“ निजधर्म क्षात्रिय भूल अर्जुन मोहमें यों फँसगये ।
वह तमोगुणको सत्त्वगुण लख भूल अपनेको गये ॥
इस हेतु करने पापका प्राणान्त प्रायश्चित यही ।
उद्यत हुआ था तमोगुणकी अधिकतासे वह सही ॥
अतएव प्रमाद तमोगुणकी प्रबलतासे पुरुषमें ।
जड़ता रहैं निश्चेष्टता तब भूल होती पुरुषमें ॥
है पुरुष ऐसी पाय स्थितिको धर्म अपना भूलता ।
उपरोक्त अर्जुनभी इसीसे मोहवश ली मूढता ॥
वह थी न अर्जुनकी स्वभाविक क्षात्रवृत्ति रु दीनता ।
थी चित्तकी व्यामोह जन्याहि सामयिक स्थिति हीनता ॥”

(१)

इस तरह श्री भगवान्के उपनिषदमें गाये हुए ।
इस योगशास्त्र-प्रबोध-विषयक-ब्रह्मविद्यामें हुए ॥

श्रीकृष्ण अर्जुन वादमें यह पूर्ण प्रथमाध्याय है।
"अर्जुनविषादयोग" पढ सुन शोकहर सुखपाय हैं॥

ॐ तत्सदिति पुष्करणा वंशावतंस शाण्डिल्यगोत्र ज्योतिर्विद् पण्डित कालूरामात्मजेन पुरोहित बदरीदासशर्मणा विरचिते हिन्दीपद्यमय श्रीमद्भगवद्गीतार्थप्रबोधे अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः।

सांख्ययोग.

"श्रीकृष्णका-उत्तेजन" १-२

॥ संजय उवाच ॥

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्॥
विषीदंतमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः॥ १॥

पूर्वोक्त करुणाव्याप्त अश्रुन पूर्ण व्याकुल नयन थे।
उस शोक सम्पन्न पार्थ[1]को यह कहे हरि[2]ने वचन थे॥ १॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्॥
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन॥ २॥

हे पार्थ! सङ्कटके समय यह मोह तुमको कस हुआ।
अनार्यजनके योग्य है नहीं स्वर्गदाता यह हुआ॥
है कीर्तिहर्त्ता अपयशी इस लोकमें उसको लिया।
किस हेतुसे हमको बताओ मोह कैसे होगया॥ २॥

---

१ कुन्तीने अनेकतपस्यासे तुम्हें पायाहै। २ श्रीकृष्णने।

क्लैब्यं मास्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ॥
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३ ॥

अयि पार्थ ! क्लैब्यं[1] मत गहो यह शोभता न तुम्हें कभी ।
तज तुच्छ हियकी दीनता उठ, परन्तप[2] ! रणकर अभी ॥ ३॥

"अर्जुनका उत्तर, कर्तव्य-मूढता और धर्मनिर्णयार्थ श्रीकृष्णके शरणापन्न होना" ४-१०

॥ अर्जुन उवाच ॥

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ॥
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥

हे शत्रुसदन कृष्ण ! रणमें पूजनीय पितामहं ।
कस भीष्म गुरुसे बाण द्वारा लडूं मधुसूदन ! अहं ॥ ४ ॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ॥
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

मह हृदयवाले पूज्य गुरुनहीं मारके इस लोकहैं ।
भिक्षान्न भोजन श्रेय मुझको अर्थरत गुरु लोग हैं ॥
प्रभु ! मारकर उनको यहींपर रुधिररञ्जे हाथसे ।
हैं पडेंगे ये भोगने सब-भोग हमें अनाथसे ॥ ५ ॥

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ॥

---

१ क्लीबकी तरह नामर्द न हो । २ हे शत्रुको ताप देनेवाले अर्जुन !

यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

यह भी न जानों कौनसा है कर्म श्रेयसकर हमें ।
इस युद्धमें हम उन्हें जीतें जीतलें या वे हमें ॥
जिन कौरवोंको मारके जीना न चाहें हम कभी ।
वे सामने रणमें डटे हैं वीरगण मरने सभी ॥ ६ ॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ॥
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥

हे कृष्ण ! मेरा दीनतासे भाव—निज उप हत हुआ ।
औ मुझे अपने धर्मका भी मोह मनमें यों हुआ ॥
अतएव निश्चित पूछताहूं श्रेय हो बतलाइये ?
हूँ शिष्य शरणागत मुझे कर्तव्यको समझाइये ? ॥

नहि प्रपश्यामि ममापनुद्या-
द्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ॥
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

सब भूमिका विन शत्रु उन्नत राज्यमिल मुझको अभी ।
इन्द्रत्वतक मैं प्राप्त करलूं तीव्र शोक न जा तभी ॥

---

१ मोक्षप्रद । २ दबगयाहै । ३ युद्ध करना या भिक्षा मांगना ।

जो इन्द्रियोंको शोषता तिहिं दूर करनेका मुझे।
सदुपाय दृष्टि न आय इससे पूछता उसको तुझे ? ॥ ८ ॥

॥ संजय उवाच ॥

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतपः ॥
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूवह॥९॥

धृतराष्ट्र ! ऐसे पार्थने श्रीकृष्णको रण बिच कहा ।
गोविन्द ! मैं लड़ता नहीं यह बोलके सो चुप रहा ॥ ९ ॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ॥
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदंतमिदं वचः ॥ १० ॥

हे भारत ! हृषिकेशने उपहासको[1] करते हुये ।
दुहिं सैन्यके बिच शोक करते सखाको यह वच कहे ॥ १० ॥

"आत्माका अशोच्यत्व" ११-१३.

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ॥
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पंडिताः ॥ ११ ॥

जिनके लिये नहीं शोककरना चाहिये उनके लिये ।
तुमहुये हो अति शोक व्याकुल, पण्डितोंके रवें[2] लिये ॥
यों बोलते हो, किन्तु बुधगण मृतक[3] या जीवित[4] विषे ॥
हियमें न कोई ख्याल लाते हैं न चिन्ता उन विषे ॥ ११ ॥

---

१ हंसते हुएसे । २ पाण्डितोंकेसे वचनोंको । ३ जिनके प्राण चले गयें । ४ जिनके प्राण नहीं गये हैं ।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ॥
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ १२ ॥

हैं वस्तुतः ऐसा नहीं जो किसी काल न मैं रहा ।
अथवा न तूं था या न राजा लोगथे जाता कहा ॥
और ऐसा भी नहीं जो भविष्यमें हम सब न हो ।
अतएव आत्मा कालत्रयमें सर्वथा, हैं फिर स्वै हो ॥ १२ ॥

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ॥
तथा देहांतरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १३ ॥

तनु प्राप्त देहीको यथा इस, देहबिच बचपन तथा ।
यौवन जरा वत देह अन्य हि हुआ करती हैं प्रथा ॥
इसलिये इसमें धीर नरको मोह होता है नहीं ।
यों आत्म कैसाऽशोच्य इसको समझलो अर्जुन सही ॥ १३ ॥

"देह और सुखदुःखकी अनित्यता" १४–१९.

मात्रास्पर्शास्तु कौंतेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ॥
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्वभारत १४

कौंतेय ! मात्रास्पर्श हैं सुख दुःख शीत रु उष्णदा ।
हैं अनित आते और जाते सहनकर उनको सदा ॥ १४ ॥

---

१ आत्मा । २ शरीर । ३ मात्रास्पर्शका–अर्थ इन्द्रियोंके विषयोंके साथ स्पर्श सम्बंध है यह संबन्ध या गीताके शब्दोंका स्पर्श तीन प्रकारका होताहै (१) मनका स्पर्श (२) शक्तिका स्पर्श (३) शरीरका स्पर्श. शरीरकेस्पर्शसे शक्तिका स्पर्श और शक्तिके स्पर्शसे मनका स्पर्श उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है. शरीरसे शरीर छूनेसे शारीरिकस्पर्श होताहै. शरीर न छूनेसे और निकटस्थ पासमें होनेसे शक्तिका स्पर्श–

यं हि न व्यथयंत्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ॥
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

नर[1] श्रेष्ठ ! जो सुख दुःखको समजान अमृत योग्य हो।
उस धीरको ये नहीं करते कभी व्याकुल अज्ञ[2] हो ॥ १५ ॥

" सदसद्विवेक और आत्माके नित्यत्वादि स्वरूप कथन आदिसे उसके अशोच्यत्वका समर्थन " १६--२९.

—होताहै। इसी कारण देवमन्दिरोंमें यदि नीच व्यक्ति जावे और वह मूर्तिको शरीरसे स्पर्श न भी करे तोभी मन्दिरकी शुद्धि की जातीहै। इसी प्रकार सच्चे साधुके पास जाकर यदि उनको स्पर्शभी न करे और साधु करके भी न जाने तौ भी उपकार होताहै; क्योंकि वह शक्तिस्पर्शका लाभ उठाता है. मानसिकस्पर्श तो सर्वोपरि है. मनके द्वारा भक्तगण मृत्युलोकमें बैठेहुए विष्णुलोकमें पहुंचकर विष्णुचरणस्पर्शकरके पवित्र होसकते हैं। अतएव आजकल जो बिगाड़क लोग स्पर्शदोष न मानकर ढेढ भंगियोंके साथ खाने पीने और छूनेमें अपने देश और समाजका भला सोचते हैं वे कितनी भयङ्कर भूल करते हैं ? इस प्रकारकी भूलसे समाज और देशकी पवित्रताही नष्ट नहीं होती वल्कि भयङ्कर एकाकार हो जाता है. जातिभ्रष्ट होकर कुल एवं जातीयधर्मका लोप होजाता है, वर्णाश्रम धर्मका बंध टूट जाताहै। इसलिये सनातनधर्मि द्विज-ब्राह्मण,क्षत्रिय और वैश्यमात्रको चाहिये कि जो व्यक्ति छूआछूतको न मानकर भ्रष्टाचरण करना चाहताहै उसे जातिकी ओरसे उचित दण्ड देना चाहिये. एसा करनेसे ही बिगाड़कोंका होस ठिकाने आ सकेगा. जो विधर्मी भावों और कार्योंसे स्वधर्मका शत्रु हो रहाहै अतः शत्रुको मारनेमें इन्द्रियोंके स्पर्शसे जो दोष अर्जुनको होगया था उसे हटानेके लिये ही भगवान्‌ने स्पर्शको सहन करनेकी आज्ञाकी है। ४ शीतोष्णादि द्वंद्व भावको उत्पन्न करनेवाले हैं।

१ पुरुषश्रेष्ठ । २ मूर्खही इन विषयोंसे दुःखित होतेहैं।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यतेऽसतः ॥
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १६॥

अस्तित्व नहीं है असत वस्तु रु सत्यका नास्तित्व नहीं।
अस तत्त्वदर्शी अन्त देखा उभयका निर्णय यही ॥ १६ ॥

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ॥
विनाशमव्ययस्यास्यनकश्चित्कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥

जिस ब्रह्मसे है व्याप्त यह सब उसे अविनाशी लखो ।
कोई न इस अविनाशी विभुका नाश समरथ है रखो ॥ १७॥

अंतवंत इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ॥
अनाशिनोऽप्रमेयस्यतस्माद्युद्धचस्वभारत ॥ १८ ॥

है नित्य अविनाशीशरीरी अचिंत्यहि भारत ! रहा ।
ये देह सब हैं नाशशीलहि युद्धकर इससे कहा ॥ १८ ॥

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ॥
उभौ तौ न विजानीतो नायं हंति न हन्यते॥१९॥

जो पुरुष इसको समझता है मारनेवाला यही ।
अरु आत्मको माने कि मारा जात है दोनों सही ॥
नहीं जानते हैं तत्त्व वास्तव अपरिचित दोनों रहैं ।
मरता न आतमा है न मारा जाय सकता यह कहैं ॥ १९ ॥

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ॥

---

१ नाशरहित आत्मा । २ अप्रमेय ।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥

आत्मा कभी नाहिं जन्मता मरता न होकर भी कभी ।
यह फिर न होगा सो नहीं है आत्म अज नित्यं सभी ॥
क्षयरहित वृद्धि विहीन है यह नष्ट तन होते रहैं ।
होता न हत[1] है इसीसे परिणाम विन इसको कहैं ॥ २० ॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ॥
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयतिहंतिकम् ॥ २१ ॥

जो पार्थ ! इसको जानते हैं पुरुष अज अव्यय[2] सदा ।
अविनाशिको सो मान कैसे किसीको मारे कदा ॥
कैसे किसीको मारनेको कहेगा पण्डित कभी ।
कोई न आत्मा मार दो कहता न यह मरता कभी ॥ २१ ॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ॥
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ २२ ॥

तजके यथा नर जीर्णवस्त्र रु दूसरे नूतन गहैं ।
तज तथा देही[3] पुराने तनु दूसरे नूतन लहैं ॥ २२ ॥

नैनं छिंदंति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ॥
नचैनं क्लेदयंत्यापो न शोषयति मारुतः ॥ २३ ॥

---

१ मरता । २ विकाररहित । ३ जीवात्मा ।

इसको न शस्त्रहि काटसकते अनल[1] बालें नाहिं इसे ।
जलभी न इसको गाल सकता सुखाताऽनिल[2] नाहिं इसे ॥२३॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एवच ॥
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयंसनातनः ॥ २४ ॥

यह है अछेद्य[3] अदाह्य[4] क्लेद्य[5] न अशोष्य[6] रु नित उक्त हैं ।
हैं सर्वगत यह स्थाणु[7] अचल रु सनातन अव्यक्त[8] हैं ॥ २४ ॥

अव्यक्तोऽयमचिंत्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ॥
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥

अविकार्य[9] अचिन्त्य आत्महै यह जानकर इसका तुमें ।
हे पार्थ! करना चाहिये नहीं शोकको इससे तुमें ॥ २५ ॥

"आत्माके अनित्यत्व पक्षको उत्तर" २६-२७.

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ॥
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥

"अब हैं प्रसंगोपात हरते शोक युक्ति विरुद्धसे ।"
यदि आत्मको तुम नित्य जात[10] रु मृतक[11] मानो बुद्धिसे ॥
तौभी न अस तुम महाबाहो! शोक करने योग्यहो ॥ २६ ॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ॥
तस्मादपरिहार्येऽर्थे नत्वंशोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥

---

१ अग्नि । २ वायु । ३ काटेजाने लायक नहीं । ४ जलायेजाने लायक नहीं । ५ गलायेजाने लायक नहीं । ६ सुखायेजाने लायक नहीं । ७ स्थिर स्वभाव । ८ इन्द्रियोंके अगोचर । ९ अविकारी । १० प्रत्येकशरीरोंके साथ उत्पन्न । ११ प्रत्येकशरीरनाशके साथ नष्ट ।

क्योंकि जो नर ध्रुव[1] जन्मलेता वही मरने योग्य हो।
मृतजीवका ध्रुव पुनर्जन्माहि है इसीसे समझिये।
इस अवश्यंभावीविषे[2] नहीं शोक करना चाहिये॥ २७॥

"सांख्य शास्त्रानुसार व्यक्तभूतोंका अनित्यत्व और अशोच्यत्व" २८.

**अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत॥
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥ २८॥**

"अब इस विषयको और भी प्रभु कहैं व्यापक रूपसे।
लख सांख्यशास्त्र सिद्धान्तके सम मुक्त हो तमरूपसे॥"
हे पार्थ! यह सब प्राणि पहिले जन्मसे अव्यक्त[3] ही।
हैं मध्यमें होते प्रकट फिर प्रलयमें अव्यक्त ही॥
"परप्राय ऐसा है न होता जीव दिख तम मुग्ध हैं।
अनजान आत्म स्वरूपसे नित इसीसे मनमुग्ध हैं॥२८॥"

"लोगोंको आत्मा दुर्ज्ञेय है सही; परन्तु तू सत्यज्ञानको प्राप्त कर, शोक करना छोड़" दे २९-३०.

**आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः॥**

---

१ निश्चय। २ जन्ममृत्युरूप अवश्यहोनेवाले विषयमें। ३ अप्रकट अर्थात् बिन शरीरवाले।

आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥ २९ ॥

इस आत्मको आश्चर्य ज्यों है देखता कोई कभी ।
दूसरा योंही कहाता आश्चर्य वत कोई कभी ॥
है मानता औ इसे सुनता अहो कह इस आहसे ।
आश्चर्य, सुन कह देखके भी जानता नहीं चाहसे ॥ २९ ॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ॥
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥३०॥

अतएव भारत ! यही देही देह सबमें है सदा ।
सुअवध्य इससे सर्व प्राणी शोक योग्य न तव कदा ॥ ३० ॥

" क्षात्रधर्मके अनुसार युद्ध करनेकी आवश्यकता " ३१--३८.

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकंपितुमर्हसि ॥
धर्म्याद्धियुद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्यन विद्यते॥३१॥

निज धर्म क्षत्रिय देखके होना न विचलित चाहिये ।
है धर्मरणसे अधिक अन्य न श्रेय क्षत्रियके लिये ॥ ३१ ॥

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ॥
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥३२॥

हे पार्थ ! अपने आप पाया स्वर्ग—द्वार खुले हुए ।
अस धर्मरणको भाग्यवानहि क्षत्रिय गण पाते हुए ॥३२॥

१ कामवासनासे । २ देहका स्वामी आत्मा । ३ वध कियेजानेवाला नहीं ।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ॥
ततः स्वधर्मं कीर्तिंचहित्वापापमवाप्स्यसि॥३३॥

अत एव यदि तुम धर्मरणको करोगे अर्जुन ! नहीं ।
निजधर्म यश खो पापको तब प्राप्त होंगे तुम सही ॥ ३३ ॥

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्तितेऽव्ययाम्॥
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

फिर करेंगे सब लोग तेरी अहो ! चिर अपकीर्ति हैं।
जो मृत्युसे भी अधिक दुखतर माननीय अकीर्ति हैं ॥ ३४ ॥

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ॥
येषांच त्वं बहुमतो भूत्वायास्यसिलाघवम्॥३५॥

ये महारथी सब युद्धभयसे निवृत समझेंगे तुम्हें ।
बहु मान्य हो जिनकी नजरमें गिरोगे दुख है हमें ॥ ३५ ॥

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ॥
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यंततोदुःखतरं नु किम्॥३६॥

तव शत्रु तव सामर्थ्यकी जब अहो निन्दाको लिये ।
बहु कहेंगे अपशब्द उनसे अधिक दुख क्या हो हिये ॥३६॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गंजित्वावाभोक्ष्यसेमहीम्॥
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥ ३७॥

पर युद्धमें मरके करोगे स्वर्गलाभ रु जीतसे ।
उपभोग सब भूका करोगे श्रेष्ठ रण अस नीतिसे ॥
अत एव अर्जुन ! युद्धहित निज हृदयमें निश्चय करो ।
अरु उठो मरने जीतनेमें लाभ है रण बिच खरो ॥ ३७ ॥

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ॥
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८॥

सम जानकर सुखदुःख औ जय अजय लाभ अलाभको।
फिर युद्धहित तैयार हो यों छू न सकता पापको ॥ ३८ ॥

" सांख्यमार्गानुसार विषय प्रतिपादनकी समाप्ति, और कर्मयोगके प्रतिपादनका प्रारंभः " ३९.

एषातेऽभिहितासांख्येबुद्धिर्योगेत्विमांश्रृणु ॥
बुद्ध्यायुक्तो ययापार्थ कर्मबंधं प्रहास्यसि ॥३९॥

यह सांख्यका सुविचार मैंने बताया अबतक तुम्हें।
अब कर्मयोग विशेषको कहकर सुनाताहूं तुम्हें ॥
हे पार्थ ! जिसमति युक्त हो तुम सर्व कर्मोंके किये।
सब कर्मबंधनको करोगे नाश सम्यक इसालिये ॥ ३९ ॥

" कर्मयोगका स्वल्प आचरण भी क्षेमकारक है " ४०.

नेहाभिक्रमनाशोस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ॥
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतोभयात् ॥ ४० ॥

इसमें न क्षय प्रारंभका है प्रत्यवाय न कुछ रहा।
अस कर्मयोग स्वधर्मका लघु कृत्य भी हर भय महा ॥ ४० ॥

---

१ थोडासा अनुष्ठान किया हुआभी जन्ममरणके महान्‌भयको हरदताहै ।

" व्यवसायात्मक बुद्धिकी स्थिरता " ४१.

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ॥
बहुशाखाह्यनंताश्चबुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥

हे पार्थ ! व्यवसायात्मिका[1] इस मार्गमें मति एक है ।
अत एव जिसकी बुद्धिका यों नहीं निश्चय एक है ॥
उसकी कभी होती नहीं है एक बुद्धि सुजानिये ।
हो युक्त शाखा अनेकोंसे चल मती सो मानिये ॥ ४१ ॥

" कर्मकाण्डके अनुयायी जो मूर्ख मीमांसक हैं उनकी अस्थिर बुद्धिका वर्णन " ४२-४४.

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ॥
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीतिवादिनः ॥ ४२ ॥

हे पार्थ ! वेदोके जु फलश्रुति वाक्यमें भूले हुए ।
प्रियवाक्य यह गाते सदा हैं मूढलोग भ्रमे हुए ॥
अतिरिक्त इसके दूसरा कुछ भी न है बढकर कहैं ॥ ४२ ॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ॥
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥

जो बहुत विधि विन कर्मके अरु जन्म फल दाता रहैं ।

---

१ स्थिर बुद्धि जो एकही आत्मध्येयको सिद्धकर कृतकृत्य करदेती है ।

बहु क्रिया विशेष हि मध्य फँसते भोग औ ऐश्वर्य हैं।
वे स्वर्गके पीछे पड़े जो मन्द कामीवर्य हैं॥ ४३॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्॥
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥४४

उल्लिखित भाषण ओरको मन खींच जानेसे वही।
सुख भोग औ ऐश्वर्यमें ही गर्क रहते है सही॥
इस हेतु उनकी बुद्धि कार्य अकार्यका निश्चय कभी।
करने न वाली साम्य होती एकस्थलमें स्थिर कभी॥ ४४॥

"स्थिर और योगस्थ बुद्धिसे कर्मकरनेके विषयमें उपदेश" ४५-४६.

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन॥
निर्द्वंद्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेमआत्मवान्॥४५

सब वेद हैं गुणतीन विषयक पार्थ! तुम गुणाभिन्न हो।
निर्द्वन्द्व हो नित सत्त्व स्थित निश्चिन्त योग रु क्षेम हो॥
फिर आत्मनिष्ठ हि बने रहकर कर्म ईश्वरके लिये।
उस साम्य मतिसे ही करो तुम मुक्त होवो इस लिये॥ ४५॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके॥
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥ ४६॥

सब ओरसे जलपूर्ण भूपर प्रयोजन जितना जिसे।
लघु जलाशयसे रहा हो शुभ ब्रह्मविद ब्राह्मण उसे॥

सब वेदके सम्बन्धमें है प्रयोजन उतना कहा।
स्थिरबुद्धि योगी परमआनँद मग्न हो निशिदिन रहा ॥४६॥

"कर्मयोगकी चतुःसूत्री" ४७.

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन॥
माकर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ ४७॥

अधिकार तेरा कर्म करने मात्रका है जानिये।
मिलना न मिलना फल कभी तव नहीं तावे-मानिये॥
यह हेतु रखकर "अमुक फलमिल" कार्यकर्त्ता हो नहीं।
तूं नहीं करने कर्मका भी व्यर्थ आग्रह कर नहीं॥ ४७॥

"कर्मयोगका लक्षण और कर्मकी अपेक्षा कर्त्ताकी बुद्धिकी श्रेष्ठता" ४८-५०.

योगस्थः कुरुकर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय॥
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ४८॥

हे धनञ्जय! आसक्ति[1] तजकर कर्म सिद्धि असिद्धिको।
सम मानके योगस्थ हो फिर कर्मकर लख बुद्धिको॥
जो कर्म होने सफल निष्फल विषे समता वृत्ति है।
कहते उसीको "कर्मयोग" एकाग्र मनकी वृत्ति है॥४८॥

---

१ अपने अन्तःकरणमें किसी वस्तुकी अधिकता खेंचरखना अर्थात् अमुक शाक बिना हमें भोजन अच्छा नहीं लगता. या अमुक कोरकी धोतीही मैं पेर सकता हूं ऐसी जो एक वस्तुमें चित्तकी वृत्ति अधिकतर फँसीरहै उसीका नाम आसक्ति है।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ॥
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ ४९ ॥

मति साम्यमय इस योगसे भिन कर्म बहुत कनिष्ठ है ।
अतएव इस समबुद्धिकी ही शरण लेना इष्ट है ॥
फल हेतुसे तुछ काम करते लोग वे अति दीन हैं ।
नर धनञ्जय ! इस साम्यमति विन कृपण है गुणहीन हैं ॥४९॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ॥
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ५०

है साम्यबुद्धि जु युक्त सो इस लोकमें रहता सदा ।
निर्लिप्त पाप रु पुण्यसे है "कर्मयोगी" नित मुदा ॥
अतएव आश्रय योगका कर बचो पाप रु पुण्यसे ।
"हैं कर्म करनेकी कुशलता कर्मयोग" कहैं उसे ॥ ५० ॥

"कर्मयोगसे मोक्षप्राप्ति" ५१–५३.

कर्मजं बुद्धियुक्ताहि फलंत्यक्त्वा मनीषिणः ॥
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥

"समबुद्धिसे हैं युक्त योगी कर्मफल जो त्यागते ।
वे जन्मबन्ध विमुक्त हो दुख–रहित परपद पावते" ॥ ५१ ॥

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ॥
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

जब बुद्धि तरा मोहरूपी कीचके उस पार हो ।
तब सुने सुनने योग्यमें वैराग हो न विकार हो ॥ ५२ ॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ॥
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

श्रुतिवाक्य नानातरहसुन तव बुद्धि घबडाई हुई ।
निश्चल समाधि सुवृत्तिमें जब रहैगी स्थिर सम हुई ॥
यह साम्यबुद्धि स्वरूप योगहि प्राप्त होगा तब तुझे ।
इससे अनेकादेश सुनना छोड स्थिर मन भज मुझे ॥ ५३ ॥

" अर्जुनके पूछनेपर कर्मयोगी स्थिरप्रज्ञके लक्षण और उसीमें प्रसङ्गानुसार विषयासक्तिसे काम आदिकी उत्पत्तिका क्रम " ५४-७०.

अर्जुन उवाच ॥

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ॥
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

जिसकी गयी है ठहर केशव ! आतममें प्रज्ञा सदा ।
स्थित है समाधिसु मध्य उसका कहो क्या लक्षण तदा ॥
स्थितप्रज्ञ कैसे बोलता है ? और कैसे स्थित रहै ? ।
हे कृष्ण ! बतलाओ मुझे वह विचरता कैसे रहै ? ॥ ५४ ॥

श्रीभगवानुवाच ॥

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान् पार्थ मनोगतान् ॥
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

हे पार्थ ! जिस दिन सर्व मनकी कामनाएँ तज यहीं ।
सब बाह्यविषयोंसे न सुखकी अपेक्षा रखता कहीं ॥
सदा अपने आपमें ही संतुष्ट होकर जो रहैं ।
" स्थित प्रज्ञ " कहते हैं उसे जब वासना क्षय कर रहैं॥५५॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ॥
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६॥

फिर दुःखमें जिसके न मनको खेद होता है कभी ।
आसक्ति जिसकी नहीं सुखमें और राग न भय सभी ।
क्रोध जिसका छूटचूका स्थितप्रज्ञ मुनि कहते उसे ॥ ५६ ॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ॥
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥५७॥

— मन होगया निःसङ्ग जिसका सर्वबातोंमें जिसे ॥
शुभ अशुभकृत हो प्राप्त उनका हर्ष द्वेप न कर कहै ।
प्रिय सत्य उसकी जानिये स्थिर बुद्धि "यों बोलत" रहै ॥५७

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ॥
इंद्रियाणींद्रियार्थेभ्यस्तस्यप्रज्ञाप्रतिष्ठिता ॥ ५८॥

जिस तरह कछुवा निजी अवयव खींचलें सब ओरसे ।
उस तरह जब नर इन्द्रियोंको विषयसे हर गोरसे ।
चाहिये कहना तभी स्थिर बुद्धि उसकी होगई—॥ ५८ ॥

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ॥
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥

– है निराहारी पुरुष उसके विषयकी निवृत्ति हुई ॥
पर छूटती नहीं चाह वह तो ब्रह्मका जिस काल ह ।
हो स्पष्ट अनुभव उसी क्षणमें छूटजा रस जाल है ॥ ५९ ॥

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ॥
इंद्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ ६०॥

अतएव केवल यत्नकर्त्ता विज्ञ मनको भी अरे ।
कौंतेय ! ये प्रबलेन्द्रिएँ जग बलात्कार उसे हरें ॥ ६० ॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ॥
वशे हि यस्येंद्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

आपकी मनमानी दिशामें खींच ले जाती सदा ।
इसलिये इन सब इन्द्रियोंका दमनकर फिर हो मुदा ॥
नित योगयुक्त रु मत्परायण होय रहना चाहिये ।
यों इन्द्रिएँ जिसकी स्ववश हैं उसे स्थिरधी मानिये ॥ ६१ ॥

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ॥
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ६२॥

प्रिय विषय चिन्तन पुरुषकी उन विषयमें आसक्ति हों ।
आसक्तिसे फिर का[1]मना हो कामनासे क्रोध हा ॥ ६२ ॥

---

१ कामनाका अर्थ है अभावमें भाव और भावमें अभाव अर्थात् जो वस्तु अपनेको प्राप्त नहीं है उसे प्राप्तकरनेकी तीव्र उत्कंठापूर्ण इच्छा और सदैव प्राप्त जो आत्म-वस्तु है उसे भूलकर देहादिमें तल्लीन होनेकोही कामना कहाहै; अथवा जो अपनी स्वच्छन्द इच्छा जैसा मनमें आया वैसाही करनेका नाम कामनाहै इसे कोई जब रोक देता है तब क्रोधमें परिणत होजाती है. जैसे--पत्थरकी मूर्तिमें भगवानूका अनुभव करना

क्रोधाद्भवतिसंमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ॥
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशोबद्धिनाशात्प्रणश्यति ६३

हो क्रोधसे संमोह उससे बिगड़ती स्मृति है अहो ।
स्मृति भ्रमितसे हो बुद्धि नाश रु बुद्धिक्षय सब नाश हो५३॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिंद्रियैश्चरन् ॥
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४॥

पर निजी अन्तःकरण जिसके सदा काबूमें सही ।
हैं राग द्वेष विमुक्त निजवश इन्द्रिएँ उससे वही ॥
गोविषयमें वर्तावकरती फिर भी मनसे प्रसन्न हैं ।
मन प्रसन्न रहनेसे सभी दुःख होत इसके छिन्न हैं ॥ ६४ ॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ॥
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

हैं क्योंकि जिसका मन प्रसन्न रु बुद्धि भी उसकी सदा ।
तत्काल स्थिर होती उसे स्थित प्रज्ञ कहते हैं तदा ॥ ६५ ॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ॥
नचाभावयतः शांतिरशांतस्य कुतः सुखम् ॥६६॥

जो पुरुष उक्त सुरीतिसे हैं योग युक्त हुआ नहीं ।
उसमें कभी स्थिर बुद्धि औ यह भावना रहती नहीं ॥

—भावनाहीका महत्त्वहै ऐसेही आस्ति चर्म रक्त और मज्जा पूर्ण देहको अत्मामानकर इसे मोक्षका साधन बना देना भावना काही खेल ह ।

१ भावनाका अर्थ कामनाहीके समान है केवल फर्क यह है कि कामना अदृश्य और अप्राप्त वस्तुको दृश्यरूपसे प्राप्तकरतीहै और भावना दृश्यमान गुणहीन पदार्थोंमें भी गुणका आविर्भाव कर देती है ।

फिर भावना जिसको नहीं है उसे शान्ति न आवती ।
जिस पुरुषको स्मृति शान्ति नहीं है उसे सुख कहँ गावती? ॥ ६६

इंद्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ॥
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवांभसि ॥ ६७ ॥

जिस विषयमें चरतीन्द्रियोंमें एक गोसह मन रहा ।
वह वायु जलमें नावके सम बुद्धि इसकी हर रहा ॥ ६७ ॥

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ॥
इंद्रियाणींद्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥

अतएव जिसकी विपयसे गो सर्व उरसे वश हुई ।
हे पार्थ ! कहना चाहिये स्थिर बुद्धि " बैठक " होगई ॥ ६८ ॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ॥
यस्यांजाग्रतिभूतानि सानिशापश्यतोमुनेः ॥ ६९ ॥

सब लोग लौकिक आत्मके बिच सदासे सोते रहैं ।
इसलिये उनकी रात्रि है वह किन्तु स्थित धी जो रहैं ॥
वह रहैं उसमें सदा जाग्रत तथा जो वैषयिक सभी ।
हैं वस्तु नाना भोगमें ही मग्न अपनेको कभी ॥
नहीं जान जागृत जग लखे तहँ तत्त्वदर्शी मुनि नहीं ।
प्रिय देखता संसारको हैं रात योगीकी वहीं ॥ ६९ ॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥ ७० ॥

चहुँ ओरसे जल पूर्ण हो पर तज न मर्यादा कभी।
ऐसे समुद्रहि विषे जैसे चला जाता जल सभी॥
जिस पुरुषमें सब विषय वैसे लीन होते हैं इसे।
शान्ति होती न विषयीको जो साम्य बुद्धि न है उसे॥ ७०॥

"स्थिरबुद्धिका वर्ताव" ७१.

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरतिनिःस्पृहः॥
निर्ममो निरहंकारः स शांतिमधिगच्छति॥७१॥

जो पुरुष निज सब कामनाएँ छोड़कर व्यवहारमें।
निःस्पृही होकर वर्तता है सदाही संसारमें॥
मैं और मेराभाव जिसको कभी होता है नहीं।
है उसीको वह शान्ति मिलती अन्यको जगमें नहीं॥ ७१॥

"ब्राह्मी स्थिति" ७२

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति॥
स्थित्वास्यामंतकालेऽपिब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥७२

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम
द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

हेपार्थ! ब्राह्मी यही स्थिति है इसे पाकर फिरकभी।
संसारमोह न मग्न होते "कर्मयोगी" नर सभी॥
इस ब्रह्मभाव विषेरह स्थित अन्तकालहिमें वही॥
निर्वाण ब्रह्महिप्राप्त होता मोक्ष "बदरी" हैं यही॥

(२)

इस तरह श्री भगवान्के उपनिषदमें गाये हुए ।
इस योगशास्त्र प्रबोध विषयक ब्रह्मविद्यामें हुए ॥
श्रीकृष्ण अर्जुन वादमें यह पूर्ण द्वितीयाध्याय है ।
नित " सांख्ययोग " पढे सुने वह मुक्तहो हरिध्याय है ॥

ॐ तत्सदिति पुष्करणा वंशावतंस शाण्डिल्यगोत्र ज्योतिर्विद् पण्डित काल्ह-रामात्मजेन पुरोहित बदरीदासशर्मणा विरचितं हिन्दीपद्यमयं श्रीमद्भग-वद्गीतार्थप्रबोधे, सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

ॐ तत्सत्

अथ तीसरा अध्याय " कर्मयोग "

यह पार्थको भय होगयाथा मारना रणमें मुझे ।
अब पड़ेगा, इन भीष्म द्रोणाचार्य आदिक रणसजे ॥
अतएव सांख्यसुमार्ग माफक, अशोच्यत्व रु नित्यता ।
की सिद्ध आत्माकी जिसे भय पाप उनकी सत्यता ॥
है व्यर्थ ऐसा सिद्ध कर फिर धर्मनिर्णयका किया ।
थोड़ा विवेचन और गीताविषय मुख वर्णन किया ॥
आरंभ दूजेऽध्यायमें है " कर्मयोग " किया गया ।
फिर कर्मकरनेपर न पुण्य रु पाप दोनों कह दिया ॥
जिनके लिये है एक युक्ति कि कर्म " सममतिसे करें" ।
अन्तमें उस कर्मयोगी स्थितप्रज्ञके लक्षण धरें ॥

पर स्पष्ट इतनेसे न उसका विवेचन पूरा हुआ ।
स्फुट क्योंकि यह सच बात है कि " कर्म सममतिसे हुआ ॥
उसका न लगता पाप, " पर यदि कर्मसे समबुद्धिकी ।
श्रेष्ठता निर्विवाद होती सिद्ध, तब स्थिरबुद्धिकी ॥
मांफककरें निज बुद्धिको सम काम चल निकले सही ।
इससे न होता सिद्ध यही " कि कर्म करने योग्यही ? " ॥
अतएव अर्जुनने यही की उपस्थित शङ्का तभी ।
भगवान इस अध्यायमें कहा " चाहिये करना सभी "॥
प्रभु और अगले ध्यायमें भी इसी प्रतिपादन लिये ।
हैं स्पष्टकहते प्राणियोंको " कर्मकरना चाहिये " ॥

" अर्जुनका यह प्रश्न कि कर्मोंको छोड़देना चाहिये, या करतेरहना चाहिये, सच क्या है ? "१-२.

तृतीयोऽध्यायः ।

॥ अर्जुन उवाच ॥

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ॥
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १॥

श्रीकृष्ण ! यदि इस कर्मसे समबुद्धि तव मत श्रेष्ठ है ।
तो क्यों मुझे इस घोररणमें प्रवृत करते नेष्ट है ? ॥ १ ॥

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ॥
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

हे जनार्दन ! मम बुद्धिको संदिग्ध जैसे वाक्यसे ।
तुम मुग्धकरते होय ऐसा भान होता है इसे ॥
निश्चित कहो सदुपाय एकहि मोह जिससे हरसकूं ।
कल्याणको कर प्राप्त केशव ! धर्म पालन करसकूं ? ॥ २ ॥

" यद्यपि सांख्य (कर्मसंन्यास) और कर्म-योग दो निष्ठाएँ हैं; तोभी कर्म किसीके नहीं छूटते इसलिये कर्मयोगकी श्रेष्ठता सिद्धकरके, अर्जुनको इसीके आचरण करनेका निश्चित उपदेश" ३–८.

श्रीभगवानुवाच ॥

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुराप्रोक्तामयानघ ॥
ज्ञानयोगेनसांख्यानां कर्मयोगेनयोगिनाम् ॥ ३ ॥

हे अनघ ! इस संसारमें हैं द्विविध निष्ठाएँ[1] उन्हें ।
जो पूर्वके अध्यायमें हैं बताई मैंने जिन्हें ॥
इक सांख्ययोग विचारद्वारा ज्ञानियोंके हित कही ।
सम बुद्धिमय कृत–योगसे इक योगियोंके हित कही ॥ ३ ॥

न कर्मणामनारंभान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ॥
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥

---

१ निष्ठाशब्दका अर्थ वह मार्ग है कि जिससे चलने पर अन्तमें मोक्ष मिलता है।

आरंभ कर्मोंका न करके व्यक्ति कोई भी कभी।
निष्कर्मता नहीं प्राप्त करता कर्म तजकर भी सभी॥
योगस्थ सङ्गहिं छोड़कर सम बुद्धिसे करते रहो।
मिलती न कर्मोंके तजेसे मोक्षसिद्धि कहीं अहो॥ ४॥

नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत॥
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ ५॥

नर नहीं क्षणभी कभी कोई कर्म किय विन रह सके।
जो सत्त्व रज तम रूप गुणमयि प्रकृतिको नहीं तज सके॥
हो विवश अपनी प्रकृतिके सब कर्मको करने पड़े।
सबलोग उनसे हैं रचित निज भूल तन्मय हैं खड़े॥ ५॥

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्॥
इंद्रियार्थान्विमूढात्मामिथ्याचारः स उच्यते॥६॥

कर्मेन्द्रियोंको रोकके जो विषयको मनसे चहैं।
उस मूढ़मतिको कहै दांभिक और कपटी भी कहैं॥ ६॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन॥
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥ ७॥

हे पार्थ! पर जो पुरुष मनसे ज्ञानइन्द्रिय रोकके।
औ फलाकांक्षा रहित होकर कर्म इन्द्रिय भोगके॥
आरंभ करते "कर्मयोग" हि श्रेष्ठ है जगमें वही।
इक ओर करना कुछ न तोभी दंभसे कपटी सही॥

---

१ मोक्ष जहाँ कर्मका विपाक बंधनरूप नहीं होता।

परओर करना सर्व फिरभी श्रेष्ठ पुण्य पवित्र है।
यह "कर्मयोग" रहस्य अनुपम आत्मरति-फल सत्र है॥७॥

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्मज्यायो ह्यकर्मणः॥
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥ ८॥

हे पार्थ ! नियत स्वकर्मको कर अकर्मसे करना वरम्।
बिन कर्मसे निर्वाह तनुभी असंभव होगा परम्॥ ८॥

"मीमांसकोंके यज्ञार्थ कर्मकोभी आसक्ति-छोड़कर करनेका उपदेश, यज्ञचक्रका अनादित्व और जगत्के धारणार्थ उसी-की आवश्यकता" ९--१६.

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः॥
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर॥ ९॥

जो यज्ञ[1]के हित कर्म जाते किये हैं उनके बिना।
है कर्म बंधन लोकमें इस युक्तिको जाने बिना॥
अतएव अर्जुन ! यज्ञके हित कर्म कर आशक्तिको।
या फलाशाको छोड़ सादर ज्ञानसे ले भक्तिको॥ ९॥

---

1 जिससे अपना कल्याण हो उसीका नाम यज्ञ है अर्थात् "यज्ञो वै विष्णुः" इस श्रुतिसे यज्ञ विष्णु भगवान् है। अतः परमात्माके लिये ब्रह्मार्पण बुद्धिसे कर्म कियेजाते हैं वे बंधन न होकर मोक्ष करते हैं।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ॥
अनेन प्रसविष्यध्वमेषवोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥

"जिस वर्ण आश्रममें मिला अधिकार उसको राखता।
कर अग्रसरपरमात्म ओर हि "यज्ञ" वह जग तारता ॥"
था पुरा ब्रह्माने प्रजाको यज्ञ सह रचकर कहा।
इस यज्ञद्वारा वृद्धि पाओ यज्ञ यह तुमसे चहा ॥ १० ॥

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ॥
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

हो फल प्रदाता इसीसे फिर तृप्ति देवोंकी करो।
वे देवगणभी तुम्हें तृप्त सु करेंगे यों सुख धरो ॥
इस तरह दोनों परस्परमें समादर करते हुए।
"नर परम श्रेयाहि प्राप्तहोंगे कर्मको करते हुए" ॥ ११ ॥

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यंतेयज्ञभाविताः ॥
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥ १२ ॥

हो तृप्त मखसे देवें देंगे भोग जगइच्छित तुम्हें।
उन भोगसे फिर प्रसन्न करना यज्ञसे उनको तुम्हें ॥
जो देवके दी वस्तुओंको देवगणको दें नहीं।
औ स्वयं ही उपभोग करता चोर निश्चय है वही ॥ १२ ॥

---

१ मोक्षको पाजायँगे क्योंकि मनुष्यकी इंद्रियें और कामनायें कल्याणप्रद यज्ञके लियेही सदा तल्लीन होजानेसे उसे अनात्म देहादिका भान नहीं रहता जो शिशुपनेसे अनुभवमें आरहा है वही अहर्निश यज्ञार्थ कर्म करनेसे विलीन होकर मोक्षका साक्षात्कार होजाता है। २ ब्रह्मा, विष्णु और महेशादि।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यंते सर्वकिल्बिषैः॥
भुंजते ते त्वघं पापा ये पचंत्यात्मकारणात् ॥१३॥

कर यज्ञ फिर भोजनकरें वे सन्त सबअघ मुक्त है।
पर लोग जो अपने लियेही बनाते अघयुक्त है॥
अघरूप भोजनको करें वे दुरात्मा नर है सभी।
देवान्नरूप प्रसादको नहीं भोगते पापी कभी॥ १३॥

अन्नाद्भवंति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः॥
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥ १४॥

सब जीव होते अन्नसे हैं अन्न होता वृष्टिसे।
वह वृष्टि होती यज्ञसे औ यज्ञ कर्मन-पुष्टिसे॥ १४॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्॥
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥ १५॥

यह कर्म होता ब्रह्मसे औ ब्रह्म अक्षरसे हुआ।
इसलिये व्यापक ब्रह्म निशिदिन यज्ञमेंही स्थित हुआ॥१५॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः॥
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ सजीवति॥ १६॥

यों पार्थ! ईश्वरके चलाये कर्म चक्र विषे नहीं।
इस लोकमें जो पुरुष चलता पापजीवी है वही॥
नर विषय लम्पट व्यर्थ जीवन धारता तज यज्ञ हैं।
यों यज्ञके पीछे जगत हैं जगत पीछे यज्ञ हैं॥ १६॥

" ज्ञानीपुरुषमें स्वार्थ नहीं होता; इसीलिये वह प्राप्तकर्मोंको निःस्वार्थ बुद्धिसे किया करें; क्योंकि कर्म किसीकेभी नहीं छूटते हैं " १७-१९.

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः॥
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं नविद्यते॥ १७॥

पर पुरुष जो है आत्ममें रत आत्म-तृप्त रु तुष्ट है।
उसको न कुछ कर्तव्य रहता शेष वह भव रुष्ट है॥ १७॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन॥
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥ १८॥

उसका न कुछभी है प्रयोजन कर्मके करने विषे।
औ है न कोई हानि उसकी कर्म नहीं करने विषे॥
सब भूतमें इसका न कोई प्रयोजन सम्बन्ध हैं।
बस इसीसे इस चक्रका हित दायित्व[1] सम्बन्ध है॥ १८॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर॥
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥ १९॥

इससे उसे आसक्ति तजके " कर्म करना चाहिये।"
कर्तव्य वर्णाश्रमविहित नित, कर्म करते जाहिये॥

---

१ दायित्व अर्थात् जिम्मेदारीका सम्बन्ध है क्योंकि ऐसे ज्ञानी पुरुषही लोक कल्याणके लिये निःस्वार्थ बुद्धिसे कर्म करके अपने आदर्श रूप यज्ञ चक्रको चला सकते हैं इसीसे उनपर उत्तर दायित्व है।

अतएव जो आसक्तितज निज, कर्मको करता रहै ।
" वह परम पदको प्राप्त होता " मुक्तजीवन जग रहै ॥ १९ ॥

" जनक आदि ज्ञानियोंका कर्म करनेमें उदाहरण; लोकसंग्रहका महत्त्व और स्वयं भगवान्का दृष्टान्त " २०-२४.

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ॥
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

थे अश्वपति रु अजातशत्रु विदेह कर जय क्षोभको ।
जनकादि नृपगण पागये थे कर्मसेही मोक्षको ॥
फिर लोकसंग्रहका प्रयोजन देख करना चाहिये ।
हैं क्योंकि करने कर्मसे सब लोगके भय तम गये ॥ २० ॥

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ॥
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते ॥ २१ ॥

हे पार्थ ! जो जो आचरणको श्रेष्ठ नर करते मुदा ।
कर दूसरेभी उन्हींका आचरण वैसाही सदा ।
जो कुछ प्रमाण स्वरूपसे नर श्रेष्ठ वतलाता रहै ।
सब उसीका अनुकरण करते लोग साधारण रहैं ॥ २१ ॥

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ॥
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥

पार्थ ! मेरा लोकत्रयमें कर्तव्य[1] कुछभी नहीं रहा।
न अप्राप्त कोई वस्तुका ही प्राप्त करना हीं रहा ॥
फिरभी स्वयं मैं कर्म करता नित्य रहताहूं इसे।
समझलो जिससे तुम्हारा मोह शोक न रह उसे ॥ २२ ॥

यदि ह्यह न वर्तेयं जातु कर्मण्यतंद्रितः ॥
मम वत्मानुवर्तंते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥

यदि पार्थ ! मैं भी कदाचित् आलस्य[2] हर करता नहीं।
निजकर्मका अनुष्ठान तब तो सर्वजन मेरे यही ॥
पथका करेंगे अनुसरण औ कर्म तजदेंगे सभी ॥ २३ ॥–

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ॥
संकरस्यचकर्त्तास्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ २४ ॥

–इस लिये यदि मैं कर्म तजदूं करूं नहीं उनको कभी।
उससे स्वकर्म विनाशसे क्षय धर्म प्रजा विनाश हैं ॥
फिर वर्णसङ्करकी बनेगी सृष्टि सर्वश नाश हैं।
इस तरह मैं ही प्रजाक्षय औ वर्णसङ्करका तदा ॥
कर्ता बनूंगा पार्थ ! इसेस[3] " कर्मकरताहूं सदा " ॥ २४ ॥

---

१ कर्तव्य--करनाही चाहिये ऐसा आदेश मेरे लिये नहीं है क्योंकि मुझे कोई भी वस्तु अप्राप्त नहीं है फिरभी मैं कर्म करता हूं इसका खास कारण लोक संग्रह ही है।

२ चित्तकी चपलतासे कल्याणप्रद कार्यमें अरुचि दिखाना। ३ इससे अर्थात् स्वकर्म न करनेसे प्रजाका नाश और वर्णसंकरकी उत्पात्ति होनेके दोषको मिटानेके वास्ते ही भगवान्भी कर्मकरते हैं।

" ज्ञानी अज्ञानीके कर्मोंमें भेद " २५–२६.

सक्ताःकर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वंति भारत ॥
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २५॥

हे पार्थ ! कर्मासक्त जड़ नर कर्मकरते हैं यथा ।
विद्वानको आसक्ति तजकर लोकसंग्रह हित तथा ॥
" निजकर्म करनाचाहिये " आसक्त कर्मोंमें सभी–॥ २५ ॥

नबुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम् ॥
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥ २६ ॥

–उन अज्ञजनका बुद्धिभेद न चाहिये करना कभी ।
विद्वान योगवियुक्त होकर कर्म सब करते हुए ॥
उन जड नरोंके कर्मपथमें प्रवृत रक्खें इस लिये ॥
नर लोकसंग्रहके निमित्त हि कर्मको कैसे करे ? ।
सुविचार गुण औ प्रकृतिसे कर कर्मसारे अघजरे ॥ २६॥

" तब यह आवश्यकता कि ज्ञानीमनुष्य कर्म करके अज्ञानीको सदाचरणका आदर्श दिखलावें " २७–२९.

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणिसर्वशः ॥
अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते ॥ २७ ॥

हो प्राकृतिक गुणतीन द्वारा कर्म क्रियमाण रु सभी ।
पर अहंकारविमूढ़मति गिन किया है मैंने अभी ॥ २७ ॥

तत्त्ववित्तुमहाबाहो गुणकर्मविभागयोः ॥
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ २८ ॥

पर महाबाहो कर्म गुणके विभागको माने वही ।
इस तत्त्वका ज्ञाता लखें गुण गुणोंमें वरते सही ॥
समझ, कर ऐसा न होता आसक्त गुणमें वह कभी- ॥ २८ ॥

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ॥
तानकृत्स्नविदोमंदान्कृत्स्नविन्नविचालयेत् ॥२९

प्राकृतिक गुणमें विमोहित आसक्त होतेहैं सभी ।
गुणकर्ममें आसक्त हैं वे पूर्ण विद पुरुष न अरे ।
मति मन्दको विद्वान् पूरण प्रज्ञ नहीं विचालित करे ॥ २९ ॥

" ज्ञानीपुरुषके समान परमेश्वरार्पणबुद्धिसे युद्धकरनेका अर्जुनको उपदेश " ३०.

मयिसर्वाणिकर्माणिसंन्यस्याध्यात्मचेतसा ॥
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

सुविवेकमतिसे कर्म सारे समर्पण मुझमें करो ।
निश्चिन्त आशा और ममता छोड़कर रणमें लरो ॥ ३० ॥

"श्रीभगवान्के उपदेशका-फलाफल" ३१-३२.

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ॥
श्रद्धावंतोऽनसूयन्तो मुच्यंतेतेऽपि कर्मभिः ॥ ३१॥

जग युक्त श्रद्धावान जो नर दोषदर्शी हैं नहीं ।
औ नित्य मेरे इसी मतका आचरण करते सही ॥
वे कर्म बन्धन मुक्त होंगे गिरेंगे भवमें नहीं- ॥ ३१ ॥

ये त्वेतदभ्यसूयंतो नानुतिष्ठंति मे मतम् ॥
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२॥

—पर जो न इसकाऽचरण करते और निन्दा कर वही ।
सब ज्ञानसे हो मूढ उनको नष्ट चेतन जानिये ।
हो नाश मेरे उक्त मतको जो न दृताचित मानिये ॥ ३२ ॥

" प्रकृतिकी प्रबलता और इन्द्रिय निग्रह " ३३--३४.

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ॥
प्रकृतिं यांतिभूतानि निग्रहः किंकरिष्यति ॥३३॥

निज प्रकृतिके अनुरूप चेष्टा पुरुष ज्ञानी भी करें ।
सब जीव निज निज प्रकृतिके अनुसार चलते हैं खरे ॥
तब रोकनेसे जबर्दस्ती प्रकृतिको क्या फल अहैं ?– ॥ ३३ ॥

इंद्रियस्येंद्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ॥
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपंथिनौ ॥ ३४ ॥

—गोंका विषयमें रागद्वेष स्वभावसे निश्चित रहे ।
वशमें न आना चाहिये उन रागद्वेषोंके कभी ॥
ये जीव उन्नति मार्गके हैं विरोधी शत्रु सभी ॥ ३४ ॥

"निष्कामकर्मभी स्वधर्मकाही करें उसमें यदि मृत्यु होजाय तो कोई परवा नहीं " ३५.

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणःपरधर्मात्स्वनुष्ठितात् ॥
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

सब अंगसे पूरण अनुष्ठित अन्यसे निजधर्म है ।
गुणहीन भी कल्याणकारी जो स्वाभाविक कर्म है ॥
अतएव अपने धर्ममें है श्रेय मरना भी सुदा ।
पर दूसरेका धर्मपालन भयोत्पादक है सदा ॥ ३५ ॥

" कामही मनुष्यको उसकी इच्छाके विरुद्ध पापकरनेके लिये उकसाता है ? इन्द्रिय संयमसे उसका नाश " ३६-४१.

॥ अर्जुन उवाच ॥

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ॥
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिवनियोजितः ॥३६॥

मुझको बताओ कृष्ण ! अब इस पुरुषकी इच्छा बिना ।
है कौन ऐसा शत्रु इसको जबर्दस्ती मन बिना ॥
ले घसीटे जाने कि माफक कराता है पापको ।
वार्ष्णेय ! मुझ आत्मीय प्रति हों उपेक्षा नहीं आपको ॥३६ ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ॥
महाशनो महापाप्माविद्ध्येनमिहवैरिणम् ॥ ३७ ॥

जो महापेटू महापापी रजोगुणसे होत हैं ।
यह काम क्रोध हि शत्रु समझो आत्मउन्नति-मोत है ॥ ३७ ॥

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथाऽदर्शो मलेन च ॥
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८ ॥

छुपजाय पावक धूमसे औ धूलसे दर्पण यथा ।
फिर गर्भ छुपजाता जरायु रु कामसे ज्ञानहि तथा ॥ ३८ ॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ॥
कामरूपेण कौंतेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ ३९ ॥

कौंतेय ज्ञानीके रहैं ये काममय रिपु मह सदा ।
हैं महा अतृप्तवह्निसम कर ज्ञान आवृत्त दुखप्रदा ॥ ३९ ॥

इंद्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ॥
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ४० ॥

है इन्द्रिएँ मन बुद्धि इसका अधिष्ठान कहागया ।
यह काम इनसे ज्ञानको ढक मुग्ध जीवहिं करदिया ॥ ४० ॥

तस्मात्त्वमिंद्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ॥
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

अतएव अर्जुन ! प्रथम तुम सब इंद्रियोंको वशकरो ।
फिर ज्ञान औ विज्ञान नाशक काम अघको क्षयकरो ॥ ४१ ॥

" इन्द्रियोंकी श्रेष्ठताका क्रम और आत्म ज्ञानपूर्वक उनका नियमन" ४२–४३.

इंद्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यःपरं मनः ॥
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेःपरतस्तु सः ॥ ४२ ॥

जो स्थूल बाह्यपदार्थके ही मानसे उनको लखें ।
है इसीसे इन्द्रिएँ परं औ इन्द्रिएँ पर मन रखें ॥

मनसे परे हैं बुद्धि मतिसे परे है आत्मा वही- ॥ ४२ ॥

एवं बुद्धेः परंबुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ॥
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ ४३ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो
नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

-हे महाबाहो ! इस तरहसे बुद्धिसे भी पर सही ।
पहचानकर उसको रु अपने आपको तूं रोकिये ।
औ दुरासाद्यहि कामरूपी शत्रुको चट मारिये ॥ ४३ ॥

(३)

इसतरह श्रीभगवान्‌के उपनिषदमें गायेहुए ।
इस योगशास्त्र-प्रबोधविषयक ब्रह्मविद्यामें हुए ॥
श्रीकृष्णअर्जुन वादमें यह पूर्ण तीजाध्याय है ।
शुभ " कर्मयोग " पढे लखे सो कर्मबंधन ढाय है ॥

ॐ तत्सदिति पुष्करणा वंशावतंस शाण्डिल्यगोत्र ज्योतिर्विद् पण्डित कालू-रामात्मजेन पुरोहित बदरीदासशर्मणा विरचितं हिन्दीपद्यमयंश्रीमद्भग-वद्गीतार्थप्रबोधे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अथ चौथा-अध्याय.

" ज्ञान-कर्म-संन्यासयोग "

हैं किसीके भी नहीं हटते कर्म इससे कीजिये ।
स्फुट साम्य बुद्धि सु हुए परभी " कर्मकरना चाहिये " ॥
है कर्मके मानी यही सब यज्ञयागादि कर्म है ।
मीमांसकोंके लिये ये ही स्वर्गप्रद शुभधर्म है ॥

अतएव बन्धक एकविधिसे होतहैं इससे इन्हें ।
आसक्ति तजकर कर्म सारे चाहिये करना उन्हें ॥
निजज्ञानसे यदि स्वार्थबुद्धि सु छूटजाती है तभी ।
हैं छूटते नहीं कर्म इससे चाहिये करना सभी ॥
शुभकर्मको, समबुद्धि हो विद्वानको भी इसलिये ।
निजकर्म करना चाहिये जो लोकसंग्रहको लिये ॥
इस तरहसे अबतक किया जो विवेचन इसयोगका ।
अध्याय इसमें उन्हीको दृढ़ किया क्षय भव रोगका ॥
यह कहीं शङ्क न हों कि " जीवन " वितानेके मार्गको ।
उस पार्थको रणप्रवृत्तकरने-लिये नूतनमार्गको ॥
है बताया:यह आज इससे इसीको पहले कही ।
इस मार्गकी प्राचीनता गुरु परम्परा ऐसी रही ॥

" कर्मयोगकी सम्प्रदायपरंपरा " १-३.

चतुर्थोऽध्यायः ।

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ॥
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत ॥ १ ॥

मैंने कहा था सूर्यको इस योगको अर्जुन ! उसे ।
निजपुत्र मनुको सूर्यने औ कहा, मनु इक्ष्वाकुसे ॥ १ ॥

एवं परंपराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ॥
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ॥ २ ॥

इसतरह अव्यय " कर्मयोग " हिं वंशक्रमसे प्राप्त थे ।
निमिआदिराजर्षीगणोंने उसे जाना आप्तथे ॥
हे परन्तप ! वह योग जगमें महान् कालप्रभावसे ।
जो होगयाथा नष्ट उसको सजीवनके चावसे ॥ २ ॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ॥
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥

तूँ भक्त मेरा सखा इससे उस पुरातन योगको ।
यह आज मैंने तुम्हें कहा रहस्य उत्तम योगको ॥ ३ ॥

" जन्मरहित परमेश्वर मायासे दिव्यजन्म अर्थात् अवतार कब और किस लिये लेताहै" ? ४-८.

॥ अर्जुन उवाच ॥

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ॥
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

तव जन्मतो है हुआ अब औ सूर्यका इससे अहो
जो बहुत पहले होचुका है, इस लिये कैसे कहो
मैं, किसतरह जानूं कि तुमने बताया पाहिले इसे ।
हे कृष्ण ! मुझको रहस्य इसका बताओ भ्रम जा जिसे ॥ ४ ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

बहूनिं मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ॥
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ५ ॥

हे परन्तप ! मेरे तुमारे जन्म बहुताहि होगये ।
मैं जानताहूं उन्हें तुमतो भूल चूके तम लिये ॥ ५ ॥

अजोऽपि सन्नव्ययात्माभूतानामीश्वरोपिसन् ॥
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

मैं अजन्माभी अव्ययात्मा जीव-ईश्वरहूं तभी ।
निजप्रकृति वश-कर प्रकट होता आत्म-मायासे कभी ॥ ६ ॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ॥
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७ ॥

हे पार्थ ! जब जब धर्म हानि अर्धमका उत्थान हो ।
उत्पन्न-तब तब करूं अपने आत्मको भगवान हो ॥ ७ ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ॥
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

मैं प्रकटता प्रत्येकयुगमें साधुओंको तारने ।
फिर धर्मकी करने प्रतिष्ठा दुष्कृतोंको मारने ॥ ८ ॥

"इस दिव्यजन्मका और कर्मका रहस्य जानलेनेसे पुनर्जन्मछूटकर भगवत्प्राप्ति" ९-१०.

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ॥
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥९॥

इसतरह मेरे हैं अलौकिक जन्मकर्म लखें इन्हें ।
जो तत्त्वसे तन छोड़ पाता मुझें जन्म न फिर उन्हें ॥ ९ ॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ॥
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

आसक्ति भयऔ क्रोध त्यागी मत्परायण शरण हैं ।
वे मम स्वरूपहिं पागये बहु ज्ञान तप आचरण हैं ॥ १० ॥

"अन्यरीतिसे भजे तो वैसा फल; उदाहरणार्थ इसलोकके फलपानेके लिये देवताओंकी उपासना" ११-१२

ये यथा मां प्रपद्यंते तांस्तथैव भजाम्यहम् ॥
मम वर्त्मानुवर्तंते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ११ ॥

जो मुझे भजते यथा उनको तथा फल देता मुदा ।
सब पार्थ ! किसीभी ओरसे मम, सुपथ आते नर सदा ॥११॥

कांक्षंतः कर्मणां सिद्धिं यजंत इह देवताः ॥
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ १२॥

जो कर्मबन्धननाशको नहीं कर्मफल केवल चहैं ।
वे लोग मानुषलोकमें प्रियदेवताओंकी अर्हैं ॥
पूजा किया करते सदाही इसी हित फल दृष्टिसे ।
हैं शीघ्र मिलते कर्मफल नरलोकमें कृतपुष्टिसे ॥ १२ ॥

"भगवान्‌के चातुर्वण्यर्आदि निर्लैपकर्म; उनके तत्त्वको जानलेनेसे कर्मबंधनका नाश, और वैसे कर्मकरनेके लिये उपदेश" १३–१५.

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ॥
तस्यकर्त्तारमपिमांविद्ध्यकर्त्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥

इन चारवर्णोंकी व्यवस्था गुण रु कर्मविभेदसे।
निर्माण मैंने की इसे तूं ध्यानमें रख वेदसे ॥
कर्त्ता इसीका स्पष्ट मैं हूं अकर्त्ता अव्यय उसे।
हे पार्थ! सम्यक जान मुझको कर्म बन्धनक्षय जिसे ॥ १३ ॥

न मां कर्माणि लिंपंति न मे कर्मफले स्पृहा ॥
इतिमांयोऽभिजानातिकर्मभिर्न स बध्यते ॥ १४ ॥

सब कर्म करते भी न लिप्त हूं फलाशा उसकी नहीं।
जो जानताहै मुझे ऐसे कर्मसे बन्धता नहीं ॥ १४ ॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ॥
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥

इसतरह लखकर पूर्वके भी मुमुक्षुओंने कृत किये।
अतएव कर प्राचीन कर्महि पूर्वजोंका पथ लिये ॥ १५ ॥

"कर्म अकर्म और विकर्मका भेद; अकर्महीं निःसङ्गकर्म है। वही सच्चा कर्म है और उसीसे कर्म बंधनका नाश होता है" १६-२३.

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ॥
तत्तेकर्मप्रवक्ष्यामियज्ज्ञात्वामोक्ष्यसेऽशुभात्॥१६॥

क्या कर्म है रु अकर्म क्या ? विद्वान गण भी इन विषे।
हैं विमोहित उस कर्मको मैं कहूंगा तुमको जिसे ॥
तुम जानकर अर्जुन ! अशुभसे मुक्ति पावोगे यहीं।
अतएव वैसा कर्म तुमको बताऊँ समझो सही ॥ १६ ॥

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ॥
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहनाकर्मणो गतिः ॥ १७ ॥

हैं कर्मकी गति गहन इससे जानलेना चाहिये।
हैं कर्म क्या औ समझना कि विकर्म किसको गाइये ॥
फिर ज्ञात करलेना यही कि अकर्म किसको कहत हैं।
ये वस्तुतः सब जान जिससे सर्व संशय जरत हैं ? ॥ १७ ॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ॥
सबुद्धिमान्मनुष्येषुसयुक्तःकृत्स्नकर्मकृत् ॥ १८ ॥

जो देखसकताऽकर्ममें हैं कर्मको अरु कर्ममें।
देखें अकर्महि पुरुष वो है विज्ञ सारे धर्ममें ॥
सब मनुष्योंमें वही ज्ञानी कर्म योगी भक्त है।
फिर वही सारे कर्मकर्त्ता चतुर बुद्धि सु युक्त है ॥ १८ ॥

यस्य सर्वे समारंभाः कामसंकल्पवर्जिताः ॥
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पंडितं बुधाः ॥ १९ ॥

"यों कर्मयोग विज्ञानसे स्फुट—मोक्ष है गीता कहै"।
अब उसी अकर्मरूप कर्म हि प्रशंसा श्रीमुख कहै।

सब कर्मके उद्योग जिसके फलेच्छा बिन हो लिये।
ज्ञानाग्नि द्वारा भस्म जिसके कर्म अकर्म हो गये॥
ऐसे पुरुषको कहै पण्डित लोकमें बुधगण सदा--॥ १९॥

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः॥
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः॥२०॥

--जो कर्म फल आसक्ति तजकर तृप्त है निजमें मुदा।
है निराश्रय औ कर्मरत पर जराभी करता नहीं।
अतएव उसका नियत कर्म अकर्म होजाता सही॥ २०॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः॥
शारीरं केवलं कर्मकुर्वन्नाप्नोतिकिल्बिषम्॥ २१॥

जो निराशी यतचित्त-आत्मा परिग्रह--त्यागी सभी।
वह कर्म तनुका करत केवल पर न अघ पाते कभी॥ २१॥

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वंद्वातीतो विमत्सरः॥
समःसिद्धावसिद्धौ च कृत्वापिननिबद्ध्यते॥२२॥

हो अनायास हि प्राप्त उसमें तुष्ट द्वंद्वातीत है।
सम है सफलता विफलतामें विमत्सर गोतीत है॥
वह कर्म करता भी न बंधन प्राप्त होता है कभी--॥ २२॥

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः॥
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥ २३॥

---

१ ज्ञानाग्नि अर्थात् यह ज्ञान कि जो स्वकर्म है वह यज्ञार्थ या ब्रह्मार्पण बुद्धिसे करनेपर अकर्म हैं; बंधनकर्त्ता नहीं है इस प्रकारकी ज्ञानाग्निसे बंधनरूप कर्म भस्म होकर जो स्वकर्म है वह अकर्म बन्धन रहित होजाते हैं। २ संध्यावन्दनादि नित्य कर्म या वर्णाश्रमोचित-स्वभाविक कर्मकोही नियत कर्म कहते हैं।

—आसक्ति रहित विमुक्त योगी ज्ञानमें स्थिरचित सभी ।
है कर्म करता यज्ञके हित सदा ऐसे पुरुषके ।
सब कर्म होजाते विलय हैं "अकर्म[1]" लख वह हर्षके ॥ २३ ॥

"अनेक प्रकारके लाक्षणिक यज्ञोंका वर्णन; और ब्रह्म बुद्धिसे किये हुए यज्ञकीअर्थात् ब्रह्मयज्ञकी श्रेष्ठता" २४–३३.

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ॥
ब्रह्मैव तेन गंतव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥

इस महामख[2]में हवनकी सब क्रिया ब्रह्मस्वरूप हैं ।
है ब्रह्म मखका द्रव्य भी औ अग्नि ब्रह्मस्वरूप है ॥
फिर हवनकर्त्ता ब्रह्मरूप रु ब्रह्ममय यह कर्म है ।
इस तरह जिसकी बुद्धि उसको ब्रह्महो मिल धर्म है ॥ २४ ॥

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ॥
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥

है अन्य कोई कर्मयोगी दैवयज्ञ उपासते ।
पर[3] यज्ञसेही यज्ञको ब्रह्माग्नि मध्य उपासते ॥ २५ ॥

श्रोत्रादीनींद्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ॥
शब्दादीन्विषयानन्यइंद्रियाग्निषुजुह्वति ॥ २६ ॥

अन्य गोसंयम अनलमें श्रोत्रादि आहुति दे करें ।
अन्य शब्दादिक विषयका गो—अग्निमें हवनहि करें ॥ २६ ॥

---

१ बन्धन कर्त्ता नहीं हैं । २ यज्ञ । ३ अन्य प्रकारके कर्मयोगी ।

सर्वाणींद्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ॥
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥

पर ज्ञानदीपित[1] आत्मसंयम योग अग्नि विषे सदा ।
गो, प्राणके सब कर्म या व्यापारको होमे मुदा ॥ २७ ॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथाऽपरे ॥
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

यों कठिन व्रतधारी पुरुष जो संयमी करते रहैं ।
नित द्रव्ययज्ञरु तपोयज्ञ हि योग यग जप यज्ञ हैं ॥
स्वाध्याय यज्ञ रु ज्ञानयगसे सर्व पापोंको हरें ।
जिनसे सभी अघमुक्त होकर आत्मशुद्धिको करें ॥ २८॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथाऽपरे ॥
प्राणापानगतीरुद्ध्वाप्राणायामपरायणाः ॥२९॥

गति प्राण अपान रोक तत्पर होय-प्राणायाममें ।
याऽपानका कर हवन प्राणहि अन्य प्राण अपानमें ॥ २९ ॥

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ॥
सर्वेऽप्येतेयज्ञविदोयज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥

दें अन्य योगी मिताहारी प्राणमें प्राणाहुती ।
यों सर्वयोगी[2] दे रहेहैं यज्ञवित्पापाहुती ॥ ३० ॥

---

१ उपरोक्त प्रकारका ज्ञान अर्थात् कर्मयोग क्या हैं उसे समझकर मन और शरीरको संयम करनेवाले कर्मयोगमें इन्द्रिये और प्राणोंकी सब चेष्टायें विलीन करदे ।

२ कर्मयोगको समझनेवाले अर्थात् समबुद्धिसे स्वकर्माचरणकरनेवाले योगी ।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यांति ब्रह्म सनातनम् ॥
नायंलोकोऽस्त्ययज्ञस्यकुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥ ३१॥

वे यज्ञसे निष्पाप होकर यज्ञ शिष्टामृतभुजी।
मिळते सनातन ब्रह्ममें जा, कर्मयोगी–मखसंजी[1] ॥
हे पार्थ ! यज्ञविहीननरको लोक यह भी है नहीं।
परलोक कैसे उसे होगा ? प्राप्तकर इससे यही ॥ ३१ ॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ॥
कर्मजान्विद्धितान्सर्वानेवंज्ञात्वाविमोक्ष्यसे ॥

इसतरह बहुविध यज्ञश्रुतिसे विहित हितसाधन[2] लिये।
उत्पन्न वे सब कर्मसे हैं ज्ञान ऐसा जब हुए ॥
तब शुद्ध भावहि यज्ञ करते पाय सुख अपवर्गको।
नरकर्मबन्धन मुक्तहोकर जीतले भू स्वर्गको ॥ ३२ ॥

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ॥
सर्वंकर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥

हे परन्तप ! इस द्रव्ययगसे ज्ञान[3] यग अतिश्रेष्ठ हैं।
अतएव अर्जुन ! अखिल[4] कर्महि ज्ञानमें लय इष्ट हैं ॥ ३३॥

“ज्ञातासे ज्ञानोपदेश; ज्ञानसे आत्मौपम्य-दृष्टि; और पापपुण्यका नाश” ३४–३७.

---

१ यज्ञार्थ तैयार हुए। २ मोक्षके लिये। ३ कर्मयोगसे मोक्ष है यह समझना इसीका नाम “ज्ञानयज्ञ” है। ४ वे सब कर्म जो बंधनकर्ता है।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ॥
उपदेक्ष्यंतितेज्ञानंज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥

वह ज्ञान मिलता तत्त्वविदको प्रणामादिक करनसे ।
औ ब्रह्मविषयक प्रश्नसे गुरु चरण सेवा करनसे ॥
प्रणिपातआदिकसे प्रसन्न हो आत्मज्ञानी गुरु तुम्हें ।
उस ज्ञानका उपदेश देंगे करें अजरामरतुम्हें ॥ ३४ ॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पांडव ॥
येनभूतान्यशेषेणद्रक्ष्यस्यात्मन्यथोमयि ॥ ३५ ॥

जिस ज्ञानको पाण्डव ! लिये फिर मोह यों पाओ नहीं ।
उस ज्ञानसे[1] सब प्राणियोंको अपनमें देखो यहीं ॥
फिर उन्हें मुझमें लखोगे तुम इकट्ठे इकस्थल सभी ॥ ३५ ॥

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ॥
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ ३६ ॥

सब पापियोंसे अधिक भी तूँ महापापी हो तभी ।
सब पापसागरको तरोगे ज्ञाननौकासे यदा ॥
हे पार्थ ! सद्गुरु प्राप्तिसे यह मोह लयहोगा तदा ॥ ३६ ॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ॥
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणिभस्मसात्कुरुतेतथा ॥ ३७॥

---

१ उस ज्ञानसे अर्थात् ब्रह्मार्पणबुद्धिसे स्वकर्म करनेकी युक्तिसे ।

सब काष्टको प्रज्वलित पावक भस्म करता है यथा ।
ज्ञानाग्निसे सब कर्म अर्जुन ! भस्म होजाते तथा ॥ ३७ ॥

" ज्ञानप्राप्तिके उपाय;-बुद्धियोग और श्रद्धा । इसके अभावमें नाश" ३८-४०.

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ॥
तत्स्वयंयोगसंसिद्धः कालेनात्मनि विंदति ॥३८॥

इस ज्ञानके[1] समशुद्ध पावन वस्तु नहीं संसारमें ।
लेते उसे बहुकाल पाकर कर्मयोग विचारमें ॥
परिपक्वयोगी पुरुष अपने आपमें अनुभव करें-॥ ३८ ॥

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेंद्रियः ॥
ज्ञानंलब्ध्वापरांशांतिमचिरेणाधिगच्छति ॥ ३९॥

-जो पुरुष श्रद्धावान है गो संयमी तत्परखरे ।
[2] वह ज्ञान पाकर शीघ्रही उस परम शान्तिहि ले मुदा-॥ ३९॥

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ॥
नायंलोकोऽस्तिनपरोनसुखंसंशयात्मनः ॥ ४० ॥

हैं अज्ञ श्रद्धाहीन संशय ग्रस्त नरका क्षय सदा ।
संदिग्ध नरको यही लोक न मिलत कहां परलोक है ॥
कल्याण सुख तब मिले कैसे ? शोक इह परलोक है ॥ ४० ॥

---

१ इस ज्ञानके अर्थात् जो स्वकर्म हैं वे बंधन नहीं होनेसे अकर्म ही हैं अथवा लोक कल्याणार्थ स्वकर्मका पालन करना यज्ञार्थकर्म होनेसे बन्धक नहीं है ऐसा समझनेके समान । २ कर्मयोगसे मोक्ष होती है या नहीं ?

" कर्मयोग और ज्ञानका पृथक् उपयोग बतलाकर, दोनोंके आश्रयसे युद्ध करनेके लिये उपदेश " ४१--४२.

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ॥
आत्मवंतंनकर्माणि निबध्नंति धनंजय ॥ ४१ ॥

जिसने धनञ्जय ! " कर्मयोग " सु कर्म फलको तजदिये ।
मिट चुका संशय ज्ञानसे उस कर्मयोगीके लिये ॥ ४१ ॥
नहीं कर्मबंधन रूप इससे मोह शोकहिं दाट दो ।

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ॥
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥

ॐतत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः॥४॥

–तमसे हुआ संशय हृदयमें ज्ञान असि ले काट दो ॥
फिर कर्मयोग विषे लगकर, कर्म करना चाहिये ।
उत्तिष्ठ भारत ! कृष्णने स्फुट कहा " बदरी " मानिये॥४२॥

(४)

इसतरह श्रीभगवानके उपनिषदमें गायेहुए ।
इस योगशास्त्रप्रबोधविषयक ब्रह्मविद्यामें हुए ॥
श्रीकृष्ण अर्जुन वादमें यह पूर्ण चौथाध्याय है ।
निज " ज्ञान कर्मसंन्यास योग " लखै सो सुख पाय है ॥

ॐ तत्सदिति पुष्करणा वंशावतंस शाण्डिल्यगोत्र ज्योतिर्विद् पण्डित काल्रामात्मजेन पुरोहित बदरीदासशर्मणा विरचितं हिन्दीपद्यमयं श्रीमद्भगवद्गीतार्थप्रबोधे, ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः॥ ४ ॥

अथ पाँचवाँअध्याय ।

संन्यासयोग

सिद्धान्त चौथेऽध्यायपर संन्यासमार्गी मन अहे ।
शङ्का, उसीको पार्थ मुखसे प्रश्नमय कहला रहे ॥
है उसीका अध्यायमें भगवान्ने उत्तर दिया ।
सब कर्मकी यदि ज्ञानमें हि समाप्ति है बतलादिया ॥
औ ज्ञानसे ही कर्म सारे भस्म हो जाते रहें ।
फिर सर्व यज्ञोंसेऽति उत्तम ज्ञान यगको ही कहे? ॥
तब दूसरे अध्यायमें ही कहा यह सुनलीजिये ।
"निजधर्म रण करना कहाहै, श्रेय क्षत्रियके लिये" ॥
अध्याय चौथेकी समाप्ति पर बात यह किसके लिये ।
है कही "कर्मसु योग म लग कर्म करना चाहिये !" ॥
इस प्रश्नका गीता दिया यह स्पष्ट उत्तर मानिये ।
सब दूरकर सन्देह श्रेयस प्राप्तिके हित जानिये ॥
है ज्ञानकी जगमें जरूरत और यदि उसकोलिये ।
हो न इन कर्मोंकी जरूरत तदपि छूट न इसलिये ॥
वे लोकसंग्रहकेलिये यों जरूरी सब कृत्य हैं ।
अपेक्षा, ज्ञान रु कर्म दोनों समुच्चयकी नित्य हैं ॥
पर यहीं शङ्का होतिहै कि--कर्मयोग रु सांख्य है ।
शुभमार्ग दोनों शास्त्रविहित हि अतः इनमें सांख्य है ॥
स्वीकार, इच्छाके स्वमाफक और कृतका त्यागहै ।
तो हानि क्या जो कर्म सारे त्यागनेमें राग है ? ॥

अतएव इसका पूर्णनिर्णय स्पष्ट होना चाहिये ।
इन उभयमार्गोंमें रहाहै कौन उत्तम जानिये ॥
थी यही शङ्का पार्थ मनमें हुई इससे फिर किया ।
तीसरे अध्याय माफक प्रश्न उसने रखदिया ? ॥

"अर्जुनका यह स्पष्ट प्रश्न कि, संन्यास श्रेष्ठ है या कर्मयोग? इसपर श्रीभगवान्का यह निश्चित उत्तर कि, मोक्षप्रद तो दोनों है? पर कर्मयोग ही श्रेष्ठ है" १-२.

पञ्चमोऽध्यायः ।

॥ अर्जुन उवाच ॥

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ॥
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

हे कृष्ण ! तुम इकवार उत्तम बताया संन्यासको ।
फिर कर्मयोगहि को बताया श्रेष्ठ संशय दासको ॥
इन उभयमें है कौन उत्तम ? अधिक बतलाओ वही ।
अतएव मुझको एक निश्चय कहो जो सचमुच सही ? ॥ १ ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ॥
तयोस्तुकर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥

हैं कर्म त्याग रु कर्म योगकि द्विविध निष्ठाएँ कही ।
निःश्रेयप्रद दोनों बराबर योग्यतामें सम रही ।।
फिर अपेक्षा संन्यासकी वह कर्मयोग विशेष है ।
अतएव दोनों बीच उत्तम कर्मयोग अशेष है ।। २ ।।

"सङ्कल्पोंको छोड़देनेसे कर्मयोगी नित्य संन्यासी ही होताहै; और विनाकर्मके संन्यास भी सिद्ध नहीं होता इसलिये तत्त्वतः दोनों एकही हैं" ३--६.

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति ।।
निर्द्वंद्वो हि महाबाहो सुखं बंधात्प्रमुच्यते ।। ३ ।।

जिसमें न राग रु द्वेष हो लख नित्य संन्यासी उसे ।
क्योंकि अर्जुन ! निर्द्वन्द्व है वह मुक्तबंधन सहजसे ।। ३ ।।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदंति न पंडिताः ।।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विंदते फलम् ।। ४ ।।

हैं मूर्ख कहते सांख्य योगहिं पृथक पर पाण्डित नहीं ।
दुहिं मार्गमेंसे एकका आचरण करता है वही ।।
नर मोक्षमय दोनों सुफलका लाभ करता है सदा ।
अतएव दोनों मोक्षदाता भेद कुछभी नहीं कदा ।। ४ ।।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।।
एकं योगं च सांख्यं च यः पश्यति स पश्यति ।। ५ ।।

जो मोक्षमय पद मिले सांख्यहि योगसे मिलता वही ।
यों ज्ञानपथ औ कर्मपथको एक देखें दिख वही ॥ ५ ॥

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ॥
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

"दुहिं एक हैं" फिर भी अधिकता कर्मयोगविषे रही ।
श्रीकृष्ण अर्जुनसे बताते उसीको जगहित सही ॥
संन्यासको है प्राप्त करना कठिन योग विना कहै ।
पर कर्मयोग नियुक्तमुनिवर शीघ्र जा ब्रह्महि गहै ॥६॥

"मन सदैव संन्यस्त रहता है और कर्म केवल इन्द्रिएँ किया करती हैं; इसलिये कर्मयोगी सदा अलिप्त, शान्त और मुक्त रहताहै" ७-१२.

योगयुक्तोविशुद्धात्माविजितात्माजितेंद्रियः ॥
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥

है कर्मयोग नियुक्त जिसका शुद्ध सत्त्व सु होगया ।
निज इन्द्रिएँ मनको किया जय विश्वआतम होगया ॥
सव कर्म करता हुआभी वह कर्म पुण्य रु पापसे ।
निर्लिप्त रहता कर्मयोगी योगके व्यवहारसे ॥ ७ ॥

---

१ "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" अर्थात ज्ञानके विना मोक्ष नहीं है ठीक वैसे ही "एवं त्वयिनान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे" अर्थात् जहांतक जीओ वहांतक सौ वर्षों पर्यन्त कर्म करते रहो इसके विना और दूसरा कोई भी उपाय मनुष्यके लिये मोक्ष प्राप्तिका अर्थात कर्मोंसे निर्लिप्त होनेका नहीं है इन दोनों मार्गोंको एक देखता है वही देखनेवाला है और अंधे हैं ।

नैवकिंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ॥
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ८॥
हैं योगयुक्त रु तत्त्ववेत्ता पुरुष सुनने देखने ।
हैं स्पर्शकरने, बासलेने, और खाने लेटने ॥
फिर चालने औ सांसलेने सांस बाहर छोड़ने-॥ ८ ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ॥
इंद्रियाणींद्रियार्थेषु वर्तंत इति धारयन् ॥ ९ ॥
-बोलने करने विसर्जन लेने रु आँखे खोलने ।
औ बन्द करने नयनके जो बुद्धि ऐसी रख अरे ॥
ये सर्व गोगण आदि अपने विषयमें फिरती चरें ।
दृढ़ धारणा ऐसी हृदयमें धारके समझे यही ।
कुछभी नहीं मैं कर रहाहूं जानता ऐसा वही[1] ॥ ९ ॥
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ॥
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवांभसा ॥ १० ॥
जो फलाफल परमातमामें समर्पणकरके करें ।
आशक्ति तज वे कर्मसारे पापको ऐसे हरें ॥
जलसे कमल निर्लिप्त वैसे पापसे योगी जुदा ॥ १० ॥
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिंद्रियैरपि ॥
योगिनः कर्मकुर्वंतिसंगंत्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ ११ ॥

---

१ कर्मयोगी जो तत्त्वको जानकर लोकसंग्रह करता है ।

—निःसङ्ग होकर आत्म शुद्धिहि लिये करते हो मुदा ।
निजदेह मनसे बुद्धि केवल इन्द्रियोंसे भी अरें ॥
है कर्म करते अहार्निश हो मुक्त विषयोंसे खरें ॥ ११ ॥

युक्तःकर्मफलंत्यक्त्वाशांतिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ॥
अयुक्तःकामकारेणफलेसक्तोनिबद्ध्यते ॥ १२ ॥

जो योगयुक्त सु हुआ वह सब कर्मफलको तज लहैं ।
निज आत्मनिष्ठाजन्य निर्मल पूर्ण शान्ति रु सुख गहैं ॥
पर योगहीन कुवासनासे कर्मफल आसक्त है ।
वह जीवबन्धन प्राप्त हो जो कामनामें सक्त है ॥ १२ ॥

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ॥
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ १३ ॥

है वशी देही चित्तसे सब कर्म तज सुखसे रहै ।
नव द्वार वपुपुरमें न कुछभी कराता करता कहै ॥ १३ ॥

"सच्चा कर्तृत्व और भोक्तृत्व प्रकृतिका है; परन्तु अज्ञानसे आत्माका या परमात्माका समझा जाता है–१४,१५;

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ॥
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥

भगवान लोगोंसे न कुछभी कराते करते नहीं ।
कर्त्तृत्व कर्म रु कर्मफल-सम्बन्धको रचते नहीं ॥
पर प्रकृति सब कुछ पार्थ ! करती गुणोंमें गुण हैं सभी–॥१४

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ॥
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यंति जन्तवः ॥ १५॥

—किसीका भी भगवान पाप न पुण्यको लेते कभी ॥
अज्ञानसे आवृत्त हुआहै ज्ञान इससे होरहैं।
ये जीव सारे मुग्ध[1] फिरभी आत्मलिप्त न होरहैं ॥ १५ ॥

"इस अज्ञानके नाशसे, पुनर्जन्मसे छुटकारा" १६-१७;

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ॥
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥

किन्तु जिनके चित्तका अज्ञान आत्म-विज्ञानसे ।
जो होगया है नाश उनका ज्ञान रविवत भानसे ।
उस सच्चिदानन्द ब्रह्मका है कराता दर्शन सदा— ॥ १६ ॥

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ॥
गच्छंत्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥

—अतःअर्जुन बुद्धि जिसकी पर[2]-तत्त्वमें लगकर मुदा ।
है परमतत्त्वहि आत्म जिनका ठहरते परतत्त्वमें ॥
औ परम तत्त्वहि परमगति है महात्मा परतत्त्वमें ।
हैं मग्न वे निष्पाप होकर ध्यानसे ऐसे तभी ॥
फिर जन्मलेते नहीं लें फल ज्ञान भक्ति रु कृत सभी ॥ १७ ॥

---

[1] मोहित [2] आत्मस्वरूप ।

" ब्रह्मज्ञानसे प्राप्तहोनेवाले समदर्शित्वका, स्थिरबुद्धिका और सुखदुःखकी क्षमताका वर्णन" १८--२३.

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ॥
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ॥१८॥

विज्ञगणे विद्याविनयसे युक्त ब्राह्मणमें कहैं ।
गौ श्वान गज चाण्डालमेंभी आत्म समदर्शी रहैं ॥ १८ ॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ॥
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥१९

समभावमें स्थित चित्त जिसका जीवतेजी वे सभी ।
इस विश्वको है जीतचुके पुरुष समदर्शी सभी ॥
सच्चिदानंदस्वरूपसम हैं दोष विन परमातमा ।
अतएव वे हैं ब्रह्ममें स्थित, दर्शकर परमातमा ॥ १९ ॥

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्यचाप्रियम् ॥
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणिस्थितः ॥ २० ॥

---

१ जो पण्डितलोग हैं वे संसारके किसी भी उत्तम और अधममें आत्मभेद नहीं देखते परन्तु आजकलके बिगाड़क लोग इस समदर्शीका अर्थ एकाकारकरके हिंदूआदर्शको नष्ट करते हैं? अतएव स्पर्शास्पर्श, जातपांत, वर्ण अवर्ण और ऊँच नीच आदिका भेद व्यवहारदशामें जो व्यक्ति हटाकर एकाकार या स्वेच्छाचार करता है वह दुष्कर्मकरनेवाला होनेसे दण्डनीय है ।

प्रिय प्राप्त होकर हर्षते नहीं और ना प्रियमें कहीं।
उद्वेगवानाहि कभी होते बुद्धिस्थिर योगी वही॥
है रहितसंशय ब्रह्मवेत्ता पुरुष वह परब्रह्ममें।
हो सदाएकीभावसे स्थित सर्वव्यापक-ब्रह्ममें॥ २०॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्माविंदत्यात्मनियत्सुखम्॥
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते॥ २१॥

जो बाह्यविषयोंमें न है आसक्ति उस नर मनविषे।
आनन्द भगवद्ध्यानका हैं प्राप्त होता नित जिसे॥
वह पुरुष ईश्वरयोगमें स्थित हुआ एकीभावसे[1]।
आनन्द अक्षय प्राप्त करता स्पष्ट अतिशय चावसे॥ २१॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते॥
आद्यंतवंतः कौंतेय न तेषु रमते बुधः॥ २२॥

जो इन्द्रियों औ विषयके सम्बन्धसे होते सभी।
ये भोग विषयी पुरुषको सुखरूप भासत हैं कभी॥
सब दुःखके हैं हेतुवाले आदि अन्त अनित्य हैं।
कौंतेय! उनमें बुद्धिमान न रमण करते सत्य हैं॥ २२॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्॥
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखीनरः॥ २३॥

---

१ एकरूपसे अर्थात् समबुद्धिसे कर्मयोग करते करते मैं और मेरेका भाव अर्थात् यह शरीर मैं हूं यह स्त्री पुत्रादि मेरे हैं इस प्रकारका विश्वास विलीन होकर ब्रह्मार्पणदृष्टिसे एकही परब्रह्म कारण और कार्यरूपसे भान होनेसे एकरूपसे मिलजाता है।

जो पुरुष तनके नाश पहले कामक्रोधनसे हुए।
है वेगको सहने समर्थ रु विजय उनपर है किये ॥
वह युक्तयोगी पुरुष हैं इस लोकमें धीरज लिये ।
हैं सदा सच्चा सुखी वोही कामक्रोधहिं वशकिये ॥ २३ ॥

"सर्वभूतहितार्थ कर्म करतेरहनेपर भी कर्म-योगी इसी लोकमें सदैव ब्रह्मभूत समाधिस्थ और मुक्त है" २४-२८.

योऽतःसुखोऽतरारामस्तथांतर्ज्योतिरेव यः ॥
स योगीब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ २४ ॥

जो पुरुष अन्तरआत्ममें ही सुखी है निश्चय वही ।
है आत्ममें आरामवाला ज्ञानवाला है सही ॥
सच्चिदानन्दस्वब्रह्मसाथहि भावएकी सो हुए ।
है शान्त ब्रह्महि प्राप्त होता "कर्मयोगी" नितहुए ॥ २४ ॥

लभंते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ॥
छिन्नद्वैधायतात्मानःसर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥

अघ होगये हैं नाशजिनके निवृतसंशय होगये ।
सब प्राणिहितमें प्रीति जिनकी आत्ममें मनस्थिर किये ॥
एकान्त भगवत् ध्यानमें हैं मग्न ऐसे नर सभी ।
निर्वाण ब्रह्महिं प्राप्त होते ब्रह्मविद ऋषिगण सभी ॥ २५ ॥

कामक्रोधावियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ॥
अभितो ब्रह्म निर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ २६ ॥

हैं रहित काम रु क्रोधसे जो चित्तको जीतेहुए ।
परब्रह्मका अनुभवकिये उस पुरुषयोगीके लिये ॥
सब ओरसे है शान्त ब्रह्महि प्राप्त अनुभव रूपसे ।
यों "कर्मयोगी" की कही स्थिति मुक्त जीवनरूपसे॥२६ ॥

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवांतरे भ्रुवोः ॥
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यंतरचारिणौ॥२७

जो बाह्य विषयोंका न चिन्तन, करत बाहरसे हरें ।
फिर दृष्टिको भृकुटीविषे रख आत्मभाव विषे धरें ॥
है नासिकामें विचरते उन वायु प्राण अपानको ।
समरूपसे करके मुनीश्वर नित्य करते ध्यानको ॥ २७ ॥

यतेंद्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ॥
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्तएव सः ॥

सब इन्द्रिएँ, मन, बुद्धि जीती हुई हैं जिस पुरुषकी ।
इस विश्वमें वह है परायण-मोक्ष ऐसे ऋषिनकी ॥
भय क्रोध इच्छासे रहित जो मुक्तजीवन है उसे ।
कुछ भी न करना शेष अब कृत कृत्य हैं इह पर विषे॥२८ ॥

"कर्तृत्व अपने ऊपर न लेकर परमेश्वरको यज्ञ तपका भोक्ता, सब भूतोंका मित्र जानलेनेका फल" २९.

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ॥
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शांतिमृच्छति ॥

ॐतत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सुब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम पंचमोऽध्यायः ॥५॥

हे पार्थ ! मैं हूं यज्ञतपका भोगनेवाला सदा ।
लोकेश्वरोंका हूं महेश्वर सुहृद सब प्राणिन तदा ॥
हैं तत्त्वसे ऐसा मुझे जो जानकर भजता वही ।
नर परमपदको प्राप्त हो लें शान्ति "बदरी" सुखसही॥२९॥

(५)

इस तरह श्रीभगवानके उपनिषदमें गायेहुए ।
इस योगशास्त्र प्रबोधाविषयक ब्रह्मविद्यामें हुए ॥
श्रीकृष्ण अर्जुन वादमें यह पूर्ण पञ्चमध्याय है ।
" संन्यासयोग " पढ़े सुने वे मोक्ष हो अध्यात्म है ॥

ॐ तत्सादिति पुष्करणा वंशावतंस शाण्डिल्यगोत्र ज्योतिर्विद् पण्डित काल्-रामात्मजेन पुरोहित बदरीदासशर्मणा विरचितं हिन्दीपद्यमयं श्रीमद्भग-वद्गीतार्थ-प्रबोधे " संन्यासयोग " नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

ॐतत्सत् ।

अथ छठा-अध्याय ।

" ध्यानयोग "

हो सिद्ध इतना तो गया कि–मोक्ष मिलने हित कभी ।
यदि अपेक्षा किसकी न हों पर लोकसंग्रहहित सभी ॥
" ज्ञानी पुरुषको ज्ञान पीछे कर्म करना चाहिये । "
पर फलाशाको छोड़के कर कर्म सममतिको लिये ॥

जिससेकि वे बंधकबने नहीं " कर्मयोग इसे कहैं "
संन्यास पथसे कर्म पथ जग अधिक श्रेयस्कर रहैं।
होता न इतने पर समाप्त स्वकर्मयोग विचार है ॥
अध्याय तीजेमें कहा है पार्थको वच सार हैं।
जो कामक्रोधादिक विषयका स्पष्ट वर्णन करकहैं।
ये शत्रु नरकी इन्द्रिएँ मन बुद्धिमें घरकर रहैं ॥
फिर ज्ञान औ विज्ञानका है नाश करदेते उन्हैं।
अतएव इन्द्रिय रोकके तु जीतले पहले इन्हें ॥
उपदेश यह परिपूर्ण करने हेतु करना चाहिये।
इन उभय प्रश्नोंका खुलासा जरूरी है इसलिये ॥
कह प्रथम इन्द्रिय रोकनेका कार्य कैसे नर करें ?।
कहते किसे हैं ज्ञान औ विज्ञान इनको लख खरे ? ॥
पर बीचमें ही पार्थको यां पड़ा बतलाना इसे।
संन्यास कर्म रु योग पथमें कौन उत्तम कह उसे ! ॥
फिर यथाशक्तिहि उभयको इक रूपसे वर्णन किया।
शुभकर्मको नहीं छोड़कर निःसङ्ग धीसे कृत किया ॥
उससे परमपद-मोक्ष कैसे मिले उसको अब कहैं।
अध्याय छठेमें बताये साधनोंसे जो रहैं ॥
हैं कर्मयोगहि विषे जिनकी जरूरत निःसङ्गमें।
या ब्रह्मनिष्ठस्वभाव स्थितिके प्राप्तकरने ढङ्गमें ॥
न स्वतन्त्र विधिसे पतञ्जलिके योग कहनेको यही ?।
फिर स्मरण रखना चाहिये कि निरूपणभी यह नहीं ॥

यह बात आनी चाहिये निज ध्यानमें इससे किया।
अध्याय पिछली बातका उल्लेख यों समझादिया॥
"जैसे फलाशा छोडकरके कर्म करता है वही।
है विश्वमें सच्चा संन्यासी कर्म हरता वह नहीं॥

"फलाशा छोड़कर कर्तव्यकरनेवाला ही सच्चा संन्यासी और योगी है। संन्यासीका अर्थ निरग्नि और अक्रिय नहीं है" १--२.

षष्ठोऽध्यायः।

श्रीभगवानुवाच॥

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः॥
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्नचाक्रियः॥१॥

करके न कर्मफलाश्रय रु कर्तव्यकर्मोंको करें।
है वही संन्यासी रु योगी अग्निको न कभी हरें॥
क्योंकि जो नर पावक तजे वह, है न संन्यासी यती।
औ सर्वकर्मोंको तजे वह भी न संन्यासी यती॥ १॥

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पांडव॥
नह्यसन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन॥ २॥

संन्यास अर्जुन! जिसे कहते, योगजानो तुम वही।
हो फलाकांक्षाको तजे बिन पुरुष योगीभी नहीं॥
यों मुख्य दोनोंमें रहाहै, भाव "संकल्पत्यागका"।
तज जबर्दस्ती कर्म रहना यही अर्थ न त्यागका॥ २॥

"कर्मयोगीकी साधनावस्थामें और सिद्धावस्थामें शम एवं कर्मके कार्यकारणका बदलजाना तथा योगारूढका लक्षण ३"–४.

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्मकारणमुच्यते ॥
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

इस योगपथमें चढनकी रुचि रखे उस मुनिके लिये ।
है कर्महीं सदुपाय इसमें प्रतिष्ठित होतेहुए ॥
कर सिद्धिलाभ उपाय समता कहा योगारूढको ।
चांचल्यका हो नाश लय संकल्प योगारूढको ॥ ३ ॥

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ॥
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

जिसकाल इन्द्रिय भोगमें आसक्त होताहै नहीं ।
आसक्त होता कर्ममें नहीं कहाजाता तब वही ॥
महपुरुष सब सङ्कल्पत्यागी अतः योगारूढ है ।
सङ्कल्प बिन कह "योगासिद्ध" रु वही योगारूढ है ॥ ४ ॥

"योगको सिद्धकरनेके लिये आत्माकी स्वतन्त्रता" ५–६.

उद्धरेदात्मनाऽत्मानं नात्मानमवसादयेत ॥
आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥

१-समाधिकरनाही योगारूढकी अखण्ड-स्थितिरखनेका साधन है क्यों कि, चञ्चलता या संकल्प नाशही योगारूढ़ दशा है ।

पार्थ ! अपनेसे अपनका उद्धार करना चाहिये ।
औ आत्मको नीचे कभी गिरने न देना चाहिये ॥
क्योंकि आत्माको आत्मकाही बन्धु और शत्रु कहै ॥ ५ ॥

बंधुरात्माऽऽत्मनस्तस्ययेनात्मैवात्मनाजितः ॥
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

जिस आत्मद्वारा आत्म होता वशीभूत उसे कहै ।
उस आत्मका वह बन्धु आत्मा किन्तु अवशी भूत है ॥
वह आत्मके रिपुभावमें है आत्महो रिपुभूत है ॥ ६ ॥

" जितात्मा योगयुक्तोंमें भी समबुद्धिकी श्रेष्ठता " ७--९.

जितात्मनः प्रशांतस्य परमात्मा समाहितः ॥
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥

है जितेन्द्रिय रु प्रशान्त योगी समाहित परमात्ममें ।
शीतोष्ण सुखदुख द्वंद्वमें मानापमान कि प्राप्तिमें ॥ ७ ॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेंद्रियः ॥
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकांचनः ॥ ८ ॥

है सदाही समभाव संपन शास्त्र ज्ञान विज्ञानसे ।
तृप्तात्म जिसका हुआ है निर्लिप्त विषय विकारसे ॥
वह है जितेंद्रिय मट्टी पत्थर स्वर्ण सम देखे सदा ।
है युक्तयोगी वही योगारूढ कहलाता मुदा ॥ ८ ॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबंधुषु ॥
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

फिर सुहृद् मित्र रु शत्रु द्वेषी उदासी मध्यस्थमें ।
हैं बन्धु साधु असाधु सबमें भावसम विश्वस्थमें ॥
समबुद्धि योगारूढ़ है वह पुरुष ईश्वर[1]कोटिका ।
है एकदर्शी परमयोगी महात्मा सिधकोटिका ।
उपरोक्त निजस्थिति लाभके हित कर्म योग बतादिया ॥
जो करेंगे इसको सदा वह, भोगमोक्ष हि पा लिया ॥ ९ ॥

"योगसाधनके लिये आवश्यक आसन और आहार विहारका वर्णन" १०-१७.

योगी युंजीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ॥
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥

एकान्तास्थित एकाकि योगी देह मन संयत करे ।
औ निराशी अपरिग्रह होकर योगमें नित चित धरे ॥ १० ॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ॥
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ११

आसन जमावे पुन्यस्थलमें बहुत ऊँचा हो नहीं ।
फिर बहुत नीचा भी न हो वह कुशापर मृगचर्मही— ॥
रख रेशमी पट उसी ऊपर बैठके निश्चल सदा ॥ ११ ॥

---

१ परमात्माकी शक्तिसे सम्पन्न होकर अलौकिक कार्यकरनेवाला जो व्यक्ति दिखलाई पडता है वही ईश्वरकोटी अर्थात् ईश्वरके समान गिने जानेवाला योगी है ।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यताचित्तेंद्रियक्रियः ॥
उपविश्यासने युंज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ १२ ॥

एकाग्र मनकरके करे निज चित्त गो संयत तदा।
विक्षेप शून्य स्वाचित्तसे फिर आत्मस्थितिहितसो करें ॥ १२ ॥

समं कायाशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ॥
संप्रेक्ष्यनासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ १३ ॥

इस योगका अभ्यास तनु शिर गला सीधा रख अरें ॥
स्थिर होय अपने नासिकाग्रहि देखता परदिशि नहीं ॥ १३ ॥

प्रशांतात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ॥
मनःसंयम्यमच्चितोयुक्त आसीतमत्परः ॥ १४ ॥

सु प्रशान्तमन निर्भय रहैं व्रत ब्रह्मचर्यहि ले वही।
मनविषयसे संयत करे औ धारणा मनकी धरें ॥
परमेशमें ही और समझे ईशको सर्वस्व रे ।
फिर उसीमें होकर सदारत रूप अपना जानिये ।
अतएव होजाना पुरुषको योगयुक्त सु चाहिये ॥ १४ ॥

युंजन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगीनियतमानसः ॥
शांतिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामाधिगच्छाति ॥ १५ ॥

इस तरह आत्माको निरन्तर लगा ईश्वरमें रहै ।
स्वाधीनमन योगी हमारी पराकाष्ठा स्थिति लहै ।
आनन्द परम स्वरूपवाली शान्तिको पाता वही ॥
निर्वाणमुक्ति अनूप है वह समाधीमय शम रही ॥ १५ ॥

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकांतमनश्नतः ॥
नचातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १६ ॥

हे पार्थ ! जा पारिणामसे नर अधिक भोजनको करें ।
या एकदम गह निराहार रु बहुत थोड़ा खा अरे ॥
उसको न मिलती योगमें है सिद्धि ऐसे ही जिस ।
आ, प्रयोजनसे अधिक निद्रा एकदम जागे उसे ।
इस योगकी मिलती नहीं है सिद्धि उसको भी कभी ॥
यह दुःखनाशक योगमिलता नियमसे चाले तभी ॥ १६ ॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ॥
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ १७ ॥

नियमित अहार विहार करते कर्ममें रत हैं सदा ।
फिर नियमसे निद्रा लहैं औ जागते नियमित तदा ॥
यह योग उसका कर अर्जुन ! सर्वदुखको छार है ।
सुख रूप होकरके उसे यह प्राप्त इस संसार है ॥ १७ ॥

"योगीके और योगसमाधिके आत्यन्तिक सुखका वर्णन" १८–२३.

यदा विनियतं[1] चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ॥
निःस्पृहःसर्वकामेभ्यो युक्तइत्युच्यते तदा ॥ १८ ॥

तज विषय संयतचित्त जबही ठहरता आतम विषे ।
तब काम तृष्णाहीन योगी युक्त है कहते उसे ॥ १८ ॥

---

१ एकाग्रहुआ या परमात्मामें राकाहुआ मन ।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ॥
योगिनो यतचित्तस्य युंजतो योगमात्मनः ॥ १९॥

है कर्मयोगनियुक्तयोगी चित्तकी उपमा यथा।
स्थित वायुबिनके स्थान निश्चल शिखा दीपककी तथा ॥१९॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ॥
यत्रचैवात्मनाऽऽत्मानंपश्यन्नात्मनितुष्यति ॥२०॥

नर युक्तकी जिस उच्चस्थितिमें योगके अभ्याससे ।
सु निरुद्धअन्तःकरण हो उपराम सर्व विलाससे ॥
जिस समय अन्तःकरणद्वारा समाधीस्थ हुआ वही ।
तब आत्मका साक्षात् करके तृप्त हो निजमें सही ॥ २०॥

सुखमात्यंतिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतींद्रियम् ॥
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१॥

जिस समय अतिसुख अतीन्द्रियका सूक्ष्ममतिसे पा लिया ।
फिर तत्त्वसे तिहिंजान विचलित नहीं वहाँसे हो हिया ॥२१॥

यं लब्धा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः
यस्मिन्स्थितोनदुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥

जिस लाभको ले अधिक कोई लाभ बढकर गिन नहीं ।
स्थिर जहाँ होनेसे उसे फिर चलाता महदुख नहीं ॥ २२॥

तंविद्याद्दुःखसंयोगवियोगंयोगसंज्ञितम् ॥
सनिश्चयेनयोक्तव्योयोगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२३॥

जो दुःखके संयोगसे है रहित उत्तम स्थिति उसे ।
अर्जुन ! समझना योगकी वह, अवस्था है नर विषे ॥

सु मुमुक्षुका कर्तव्य है जो, चित्त उकताये विना।
इस योगका आचरण करना चाहिये चञ्चल विना ॥ २३ ॥

" मनको धीरे धीरे समाधिस्थ, शान्त और आत्मनिष्ठ कैसे करना चाहिये" २४-२६.

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ॥
मनसैवेंद्रियग्रामं विनियम्य समंततः ॥ २४ ॥

मनकी सभी हैं कामनायें त्याग कर मनवश सदा।
सब ओरसे गो खींच लेते मनो बलद्वारा तदा ॥
इस योगका अभ्यास योगी, करें उत्तम रीतिसे।
जिससे न फिर मन विषय लम्पट बने कर स्थिर नीतिसे।२४

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया॥
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपिचिंतयेत्॥२५
यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम् ॥
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥ २६ ॥

कर धैर्ययुक्त स्वबुद्धिद्वारा विषयसे मनको सदा।
उपराम धीरे करें धीरें आत्ममें स्थित मन तदा ॥
कुछ भी न चिन्ता करें फिर भी स्वभाविक चंचल हुए।
इसलिये स्थिरता हीन मन जो, हेतु जिन जिनको लिये ॥
है भागता यह विषय ओरहि, हेतु उन उनसे उसे।
तू रोककर मनको लगा दें, आत्ममें केवल इसे ॥ २५॥२६॥

" योगीही ब्रह्मभूत और अत्यन्त सुखी हैं" २७-२८.

प्रशांतमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ॥
उपैति शांतरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥

सु प्रशान्तरज है शान्तचित्त अघ–हीन धर्माऽधर्मसे ।
है रहित योगी ब्रह्ममें लय, ब्रह्मभूत स्वकर्मसे ॥
आनन्द अति पर ब्रह्मका लें सुखी होता है सदा–॥ २७ ॥

युंजन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगीविगतकल्मषः ॥
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यंतं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥

–इस तरह मनको आत्ममें ही लगाकर योगी मुदा ।
निष्पाप होकर अनायासहि ब्रह्मके संस्पर्शसे ॥
उत्पन्न अतिशय सौख्यको कर लाभ आतम दर्शसे ॥ २८ ॥

"प्राणिमात्रमें योगीकी आत्मौपम्यबुद्धि" २९-३२

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ॥
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥

है योगयुक्त जु चित्त योगी सर्वत्र समदर्शी वही ।
दिख आतमको सब भूतमें औ आत्ममें सबको सही ॥ २९ ॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ॥
तस्याहं न प्रणश्यामि सच मे न प्रणश्यति ॥३०॥

जो देखता सर्वत्र मुझको सर्वको मेरे विषे ।
मैं कभी उसके लिये अदृश्य नहीं होता हूँ इसे ॥
वह भी न मुझसे हो परोक्षहि सर्वभूतोंमें मुझे–॥ ३० ॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ॥
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥

—स्थित जान भजताऽभेद भावहि पार्थ योगी जो मुझे
वह सर्वथा वर्तमान फिर भी रहे योगी मुझ विषे।
यह दृष्टि सांख्य रु कर्मयोगहि एकसी दोनों विषे ॥ ३१ ॥

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ॥
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ३२ ॥

अतएव अर्जुन ! भूतसबमें देख सुख दुखको उसे।
अपने समान जु वही योगी श्रेष्ठ है मम मत विषे ॥ ३२ ॥

"अभ्यास और वैराग्यसे चञ्चलमनका निग्रह" ३३–३६.

॥ अर्जुन उवाच ॥

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ॥
एतस्याहंनपश्यामिचंचलत्वात्स्थितिंस्थिराम्॥३३

यह कृष्ण ! तुमने समत्वमयी योग जो मुझसे कहा।
इसकी न स्थिर स्थिति देखता हूं स्वभाविक मन चलरहा ?३३

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथिबलवद्दृढम् ॥
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिवसुदुष्करम् ॥ ३४ ॥

इस हेतुसे हे कृष्ण ! मन है, प्रमाथी चञ्चल छली।
है रोकना अति कठिन उसका, क्योंकि मन है दृढ बली ॥
है वायुके सम रोकना इस चित्तका दुष्कर अहो।
अतएव कैसे मनोनिग्रह होय उस पथको कहो ? ॥ ३४ ॥

श्रीभगवानुवाच ॥

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ॥
अभ्यासेन तु कौंतेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५ ॥

मन कठिनतासे रोकनेके योग्य है चञ्चल महा ।
यह बात निःसंदेह तेरी किन्तु निग्रह हो कहा ॥
अभ्यास[1] औ वैराग्यसे मन रुका जाता है सदा ॥ ३५ ॥

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ॥
वश्यात्मनातुयतताशक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ३६ ॥

अतएव अर्जुन ! चित्तको वश किया नहीं उससे कदा ।
यह योग पाने योग्य नहीं है मोर मत निश्चय यही ॥
है किन्तु संयत चित्तयोगी यत्नकर पावें वही ।
इस योगको सदुपाय करके मोक्ष ले योगी उसे ।
वैराग्य औ अभ्याससे नर यत्नसे पाले इसे ॥ ३६ ॥

"अर्जुनके प्रश्न करनेपर इस विषयका वर्णन कि योगभ्रष्टको या जिज्ञासुको भी जन्मजन्मान्तरमें उत्तमफल मिलनेसे अन्तमें पूर्णसिद्धि कैसे मिलती है" ३७-४९.

---

१ प्रतिदिन नियमितरूपसे प्राणायाम, ध्यान और जपादिकको करना; तथा आलस्य, निद्रा और निरुत्साहकी वृद्धिको हमेश रोकते रहना; इसीका नाम अभ्यास है.

॥ अर्जुन उवाच ॥

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ॥
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति॥३७

हे कृष्ण ! श्रद्धासाथ पहले पुरुष कोई था हुआ ।
इस योगके अभ्यासमें रत किन्तु फिर विचलित हुआ ॥
उस पुरुषको इस योगमें नहीं सिद्धि लाभ मिला अहो ।
इसलिये उनकी कौन गति हो उसे मुझको तुम कहो?॥३७॥

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ॥
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणःपथि ॥ ३८॥

जो महाबाहो ! ब्रह्मपथमें विमूढ आश्रय हीन हो ।
वह कर्मपथ[1] औ योगपथच्युत[2] विछिन घनवत दीन हो ॥
प्रभु ! नष्ट तो होजाय नहीं है ? इसीको समुझाइये—॥ ३८॥

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ॥
त्वदन्यःसंशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥

—हे कृष्ण ! यह सन्देह मेरा नाश करना चाहिये ।
है क्यों कि कोई दूसरा मम मेटनेवाला नहीं ।
सन्देहको, इससे मिटाने योग्य तुम हो पर[3] नहीं ॥ ३९ ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ॥
नहिकल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति॥४०॥

१—काम्य बुद्धिसे किन्तु शास्त्रआज्ञानुसार कर्म करनेका मार्ग; जिससे यहां और वहां-स्वर्गमें अभ्युदय हो । २ साम्य बुद्धिसे यथा—शास्त्र कर्म करनेका मार्ग; जिससे कर्म बन्धक न होकर मोक्षदायक हो जातेहैं । ३ दूसरा ।

हे पार्थ ! इह परलोक कहीं भी अधोगति उसकी नहीं ।
हो, क्योंकि जग कल्याणकृत नर पाय दुर्गतिको नहीं॥४० ॥

प्राप्यपुण्यकृतांलोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ॥
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१॥

जा योगभ्रष्ट हि पुरुष अपने पुण्यकृत परलोकको ।
बहु वर्षतक उपभोगकर फिर छोड़कर उस लोकको ॥
शुद्ध[1] श्रीमानोंके घरोंमें जन्मलेता है वही–॥ ४१ ॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ॥
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२ ॥

अथवा वही शुभ यो[2]गियोंके वंशमें जन्में यहीं ।
यों योगियोंके दिव्य कुलमें पार्थ दुर्लभ जन्मना–॥ ४२ ॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ॥
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥ ४३ ॥

–क्योंकि वहाँपर गतजन्म–आर्जित योगबुद्धि कि कल्पना ।
हो प्राप्त, योगी और आगे यत्न फिर करता रहें ।
उस योग सिद्धि स्वलाभके हित सुदृढ पुरुषार्थ गहें ॥ ४३ ॥

---

१ शुद्ध श्रीमान् वह है जिसका धन सदैव अच्छे कर्मोंमें व्यय होता है और जिसके घरमें अहर्निश पूजा, पाठ, वेदध्वनि, यज्ञ और हवनादिरूपधर्म कृत्य होतेरहते हैं । २-- योगियोंका दिव्यकुल तभी होता है जब वे समबुद्रिसे गृहस्थाश्रममें वर्णाश्रमोचित स्वकर्म करते रहतेहैं । यहाँ सद्गृहस्थोंका ही नाम योगी हैं जो कर्म करनेमें कुशल है या अपने कर्तव्य कर्मोंके सफल और निष्फल होनेमें समभाव रखते हैं वही योगी है।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ॥
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ४४ ॥

फिर पूर्वके अभ्यास वश वह योगपथ आकृष्ट हो।
नर सहजमें उस योग पथमें अधिकतर सु प्रविष्ट हो ॥
है योगका जिज्ञासु वह भी पार हो श्रुतिमार्गसे।
औ मोक्षमें हि प्रविष्ट हो इस कर्मयोग स्वमार्गसे ॥ ४४ ॥

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ॥
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परांगतिम् ॥ ४५ ॥

इस तरह करते यत्न मनको शान्तकर योगी सदा।
निष्पाप होकर क्रमोन्नतिकर जन्म बहुपाते मुदा ॥
उस योगसिद्धि स्वलाभको लें अन्तमें पाता वही।
है परमगति परमात्म रूपहि दर्शकरलेता यहीं ॥ ४५ ॥

"तपस्वी, ज्ञानी और निरे कर्मीकी अपेक्षा कर्म-योगी और उससे भी भक्तिमान् योगी श्रेष्ठ है। अतएव अर्जुनको कर्मयोगी होनेके विषयमें उपदेश" ४६-४७.

तपस्विभ्योऽधिकोयोगी ज्ञानिभ्योऽपिमतोऽधिकः ॥
कर्मिभ्यश्चाधिकोयोगीतस्माद्योगीभवार्जुन ॥ ४६ ॥

है तपस्वियोंसे श्रेष्ठ योगी ज्ञांनियोंसे श्रेष्ठ है ।
फिर कर्मियोंसे कर्मयोगपरायण वही श्रेष्ठ है ॥ ४६ ॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनांतरात्मना ॥
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयमयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

हे पार्थ ! हो तू " कर्मयोगी " योगियोंमें भी सदा ।
जो पुरुष श्रद्धायुक्त होकर लगातः मन मम मुदा ॥
औ नित्यभजता मुझे ही वह भक्तिमानहि समझिये ।
हैं योगियोंमें सर्वश्रेष्ठ हि कर्मयोगी मानिये ॥ ४७ ॥

(६)

इस तरह श्रीभगवान्‌के उपनिषद्‌में गाये हुए ।
इस योगशास्त्र प्रबोध विषयक ब्रह्मविद्यामें हुए ॥
श्रीकृष्ण अर्जुन वादमें यह पूर्ण छट्ठाध्याय है ।
इस " ध्यानयोग " हि पढे समझे अर्थ सो सुख पाय है ॥

ॐ तत्सादिति पुष्करणा वंशावतंस शाण्डिल्यगोत्र ज्योतिर्विद् पण्डित काल्रामात्मजेन पुरोहित बदरीदासशर्मणा विरचितं हिन्दीपद्यमय श्रीमद्भगवद्गीतार्थप्रबोधे, " ध्यानयोग " नामकषष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

ॐ तत्सत् ।

---

१ जो निरे कथनमात्रके ज्ञानी हैं;अर्थात् मैं ब्रह्म हूं कहदेते हैं परन्तु ब्रह्मर्षिवसिष्ठके समान ब्रह्मतेजको कार्यमें परिणत नहीं करसकते हैं । २ जो देवतादिके उद्देश्यसे कर्मकरे वा करादेते हैं परन्तु कर्मयोगबलसे उन देवोंके दर्शन नहीं करसकते या करवासकते ।

अथ सातवाँ अध्याय-

" ज्ञानविज्ञानयोग "

यह पूर्वमें प्रतिपादन कियाकि कर्मयोग रु सांख्यके ।
है तुल्य पथ दुहिं मोक्षप्रद पर स्वतन्त्रहि इस सांख्यके ॥
मार्गसे हैं श्रेष्ठ, इससे स्वल्प भी कृतयोगका ।
आचरण यदि है किया जा तो व्यर्थ नहिं हो योगका ॥
इस कर्मयोग सु मार्गका फिर सिद्धिहित वर्णन किया ।
औ जरूरी इन्द्रियनिग्रहकी रीतिको बतलादिया ॥
पर इन्द्रियनिग्रहसे प्रयोजन निरीबाह्यक्रिया नहीं ।
जिस हेतु गोकी करें कसरत अभीतक उसका कहीं ॥
सुविचार न हुआ अतः इसपर ध्यानदेना चाहिये ।
तीसरे अध्यायमें यों भगवानने कहा इसलिये ॥
प्रिय पार्थको गो निग्रहका यह प्रयोजन बतलादिया ।
जो काम-क्रोध कुशत्रु गोमें बनाकर निजघर किया ॥
हैं ज्ञान औ विज्ञानके ये नाश करते सर्वदा ।
इन शत्रुओंको मारडालो विषयनिग्रह हर्षदा ॥
अध्यायपिछले योगयुक्त सु पुरुषका वर्णनहुआ ।
वश ज्ञान औ विज्ञानसे गो होय ऐसा सिद्धहुआ ॥
है योगयुक्तहि पुरुष सारे-प्राणियोंमें देखता ।
परमात्मको, है और प्रभुमें प्राणियोंको देखता ॥
जब सर्वइन्द्रिय विनिग्रहकी बतादी विधि यों सभी ।
तब बताना अब है जरूरी ज्ञान और विज्ञानभी ॥
हैं किसे कहते ज्ञान औ विज्ञान यह बतलाइए ? ।

फिर पूर्ण ईश्वर ज्ञान होकर कर्म छोड़ न जानिए ॥
इस कर्मयोग सु मार्गविधिसे अन्तमें संशय विना ।
है मोक्ष मिलता किस तरहसे कर्म तजनेके विना ? ॥
है सातवें अध्यायसे अध्याय सत्रहतक रहा ।
अध्याय ग्यारहमें इन्हींके विषयका वर्णन महा ॥
फिर अन्त अष्टाध्यायमें सब कर्मयोग समाप्त है ।
जिसके सु जानेसे मिलेगा मोक्ष अनुभव स्वात्म है ॥
इस सृष्टिके अनेक विधिके अनेक नश्वरवस्तुमें ।
हैं सर्वमें इक ईश अव्यय व्याप्त सबविधि वस्तुमें ॥
इस समझका है नाम " ज्ञान " रु एक ईश्वरसे हुई ।
हैं विविध नश्वरवस्तुओंकी प्रथम उत्पत्ति लख यही ॥
" विज्ञान " है कहते इसीको क्षराक्षर सुविचार है ।
इसके सिवा निजदेहमें जिस आत्मका संचार है ॥
उसके स्वरूप विज्ञानसेभी बोध ईश्वररूपका ।
है स्पष्ट हो जाता इसीसे ज्ञान कर निजरूपका ॥
इस तरहके ज्ञानको कह क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विचार है ।
औ प्रथम इनमेंसे क्षराक्षर ज्ञानका सु विचार है ॥
फिर तेरहवें अध्यायमें क्षेत्रक्षेत्रज्ञ विचारका
वर्णन किया है यद्यपि इक ईश सब संसारका ॥
तोभी उपासन दृष्टिसे हैं भेद उसमें देखते ।
अव्यक्त उसके रूपको बुध बुद्धिसेही सोचते ॥
और व्यक्त स्वरूपको प्रत्यक्ष करते हैं सभी ।
अतएव इन दो सु मार्गोंके निरूपणमें भी अभी ॥

यह बताना है पड़ा प्रभुको, बुद्धिसे कैसे लखें ।
तप और श्रद्धा भक्तिसे उस व्यक्तको दिलमें रखें ।।
अव्यक्तका उसके भजनसे ज्ञान कैसे पाइये ? ।
इस विवेचन समुचेलिये अध्याय ग्यारह लगगये ।।
आश्चर्य कोई है नहीं इस तत्त्वनिर्णयके लिये ।
इसके सिवा इन दो पथोंसे ईश ज्ञानाहिके लिये ।।
निज इन्द्रियोंका अपन आपही होय निग्रह जो सभी ।
अतएव केवल विषय निग्रह करानेवाला कभी ।।
उस पतंजलके योगपथसे मोक्षधर्मोविपे कहा ।
स्फुट ज्ञानपथ औ भक्तिपथकी योग्यताधिक है महा ।।
तो भी स्मरण यह रहै यह सब विवेचन इक देश है ।
जो "कर्मयोग" सु मार्गके सं-पादनार्थ निदेश है ? ।।
है नहीं यह स्वातन्त्र वर्णन मान गीताके कहै ।
अध्यायषटमें कर्मपहले भक्ति दूजे पटक है ।।
फिर तीसरी वह पड़ाध्यायी ज्ञानसे संयुक्त हैं ।
गीताविभाग स्वतन्त्र तीनों कियेजाते युक्त हैं ।।
है तत्त्वतः वे ठीक नहीं औ स्थूलमान-विचारसे ।
ये विषय गीतामें मिलें पर नहिं स्वतन्त्र विचारसे ।।
है विवेचन, इनका नहीं यह कर्मयोग स्वअंगके- ।
जो रूपसे ही है किया था हेतुकर्म प्रसंगके ।।
अब देखना यह चाहिये कि सातवें अध्यायमें ।
आरंभ हरि किस भान्ति करते योगको सुख साध्यमें ।।

"कर्मयोगकी विधिकेलिये ज्ञानविज्ञानके निरूपणका प्रारंभ" १-२.

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युंजन्मदाश्रयः ॥
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यासि तच्छृणु ॥ १ ॥

हे पार्थ ! मुझमें मन लगाकर शरण मेरी ही गहो।
फिर योगमें तुम युक्त होकर पूर्णतः मुझको अहो ॥
जिस भाँति जानोगे उसे सुन रहित संशय हो अभी–॥ १ ॥

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ॥
यज्ज्ञात्वानेहभूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥

–मैं कहूंगा अनुभवसहित इस ज्ञानको निःशेषभी।
यों जानकर जिसको न फिर यहां जानने लायक कहीं ॥
कुछ भी स्वउन्नति मार्गमें रह जानना बाकी नहीं ॥ २ ॥

"भगवत्प्राप्तिकी दुर्लभताका वर्णन" ३.

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ॥
यततामपिसिद्धानांकश्चिन्मांवेत्तितत्त्वतः ॥ ३ ॥

नरहजारोंमें एक कोई मनुष्य सिद्धिके लिये।
नित यत्न करता सिद्धगणमें पुरुष कोई जानिये ॥
मेरे यथार्थ स्वरूपका स्फुट ज्ञान कोई इक करें।
यों हजारोंमें एकाधको मम प्राप्ति अतिदुष्कर अरें ? ॥ ३ ॥

" क्षराक्षरविचार; भगवान्की अष्टधा अपरा और जीवरूपी परा प्रकृति; इससे आगे सारा विस्तार " ४–७.

भूमिरापोऽनलो वायुःखं मनो बुद्धिरेव च ॥
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥

भू, आप[1], पावक, वायु, खं, मन बुद्धि औ अहँकार हैं ।
इन आठमें सुविभक्त मेरी प्रकृति अपरा सार है ॥ ४ ॥

अपरेयामितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ॥
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत ॥ ५ ॥

इससे पृथक है जीवरूपी परा प्रकृति सुजानिये ।
जिससे जगत यह कियाजाता सदा धारण मानिये ॥ ५ ॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ॥
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥

तूँ समझ ऐसा महाबाहो भूत सब इनसे हुए ।
हूं सर्वजगका प्रभव[2]कर्त्ता प्रलयभी मुझसे हुए ॥ ६ ॥

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ॥
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥

हे धनञ्जय ! मुझसे पृथक नहीं विश्वका कारण कहै ।
कोई न दूजी वस्तु मुझसे सर्वजग मुझमें रहै ॥

---

१ जल । २ उत्पन्न करनेवाला ।

गुंथे हुए हैं सूत्र–मणिगण तुल्य सब संसार है।
अतएव मेरे सिवा किंचित दूसरा न अकार है॥ ७॥

"विस्तारके सात्त्विक आदि सब भागोंमें गुंथे-हुए परमेश्वरस्वरूपका दिग्दर्शन" ८–१२.

रसोऽहमप्सु कौंतेय प्रभाऽस्मिशशिसूर्ययोः॥
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥ ८॥

कौंतेय! जलमें रहा रस हूं प्रभा शशि-रवि-मध्य हूं।
सब वेदमें ओङ्कार हूं नभ-शब्द, नर पुरुषत्त्व हूं॥ ८॥

पुण्योगंधःपृथिव्यांचतेजश्चास्मिविभावसौ॥
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥ ९॥

भूमें सुगंध पवित्रहूं मैं तेज पावक-बीच हूं।
सब प्राणियोंका रहा जीवन तापसोंमें तप रहूं॥ ९॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्॥
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥

पार्थ! सबभूतोंका सनातन-बीज मुझको जानिये।
तेजास्वियोंका तेज हूं मतिमानकी मतिमानिये॥ १०॥

बलं बलवतामास्मि कामरागविवर्जितम्॥
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥ ११॥

बलवान लोगोंका रहाबल बिना काम रु राग हूं।
सब भूतगणमें धर्मके-अनुकूलप्यारा काम हूं॥ ११॥

येचैवसात्त्विकाभावाराजसास्तामसाश्चये ॥
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥

हैं और भी जो सत्त्व रज तम भाव उनको जानिये।
उत्पन्न मेरेसे हुए पर मैं न उनमें मानिये ॥
फिर वे न मेरे बीच है आधार संकल्पहैं सभी।
अतएव मेरे सुवशमें वे पर न उनवश मैं कभी ॥ १२ ॥

"परमेश्वरकी यही गुणमयी और दुस्तर-माया है, और उसीके शरणागत होनेपर मायासे उद्धार होता है"१३-१५.

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ॥
मोहितंनाभिजानातिमामेभ्यःपरमव्ययम् ॥ १३॥

इन तीन गुणमय भावसे सब विश्व मोहित है यही ॥
अतः इनसे परे मुझको अव्यक्त लखते हैं नहीं ॥ १३ ॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ॥
मामेव ये प्रपद्यंते मायामेतांतरन्तिते॥ १४ ॥

हे पार्थ ! गुणमयि यह अलौकिक, योगमाया मम रही।
है बड़ी दुस्तर किन्तु जो नर सदाश्रय मम लें वही ॥
अरु निरन्तर भजतेहुऐ इस योगमायाको तरे।
जो शरण मेरी है अनन्याहि मुझे वे पाते खरे ॥ १४ ॥

न मांदुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यंते नराधमाः ॥
माययापहृतज्ञानाआसुरंभावमाश्रिताः ॥ १५ ॥

हैं पापकर्मी मूढ जिनके ज्ञानमायासे हरें ।
वे नराधम धर भाव आसुरि दंभहिंसासे भरें ॥
हे पार्थ ! मेरी शरण लेते, नहीं वे भजते मुझे ।
पर जो पुरुष भगवत्परायण होत वे पावे मुझे ॥ १५ ॥

" भक्त चतुर्विध हैं; इनमें ज्ञानी श्रेष्ठ है । अनेक जन्मोंसे ज्ञानकी पूर्णता और भगवत्प्राप्तिरूपनित्यफल " १६-१९.

चतुर्विधा भजंते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ॥
आर्तोजिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ १६॥

हे भरतवंशी श्रेष्ठ अर्जुन ! चार जन भजते मुझे ।
अर्थार्थी आर्त जिज्ञासु ज्ञानी सुकृति नर जपते मुझे ॥ १६ ॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ॥
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं सचममप्रियः ॥ १७ ॥

उनमे रहा मुझमें सदा रत एकभक्तिहिको लिये ।
अतिश्रेष्ठ ज्ञानी[1] है इसीसे-उसे हूँ प्रिय जानिये ॥ १७ ॥
हे पार्थ ! वह ज्ञानी मुझे भी, सर्वसे प्यारा महा ।
हैं क्योंकि मुझको तत्त्वसे वह जाननेवाला रहा ॥ १७ ॥

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ॥
आस्थितः सहियुक्तात्मामामेवानुत्तमांगतिम् १८॥

---

१ जो पुरुष समबुद्धिसे अपने स्वरूपको जानकर या यह सब वासुदेव है ऐसा समझकर ब्रह्मार्पणबुद्धिसे कर्मको अकर्म करता है वही ज्ञानी है ।

ये सर्ब उत्तम हैं उदारांहे किन्तु बुध मम आत्म है।
मत है हमारा क्योंकि ज्ञानी बुद्धि स्थिर युक्तात्म है॥
अतएव ज्ञानी श्रेष्ठतम हैं सदा मेरेमें रहा।
सर्वोच्चगति मयसे हमारा लिये आश्रय सो रहा॥ १८॥

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते॥
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ १९॥

जो बहुत जन्मोंके विषे लें अन्तजन्म विषे वही।
हों प्राप्त तत्त्व विज्ञानको बुध जानता ऐसा सही॥
"है वासुदेव हि सर्व कुछ यह" मुझे भजते जो सदा।
वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ प्राप्त जगमें हो कदा॥ १९॥

"अनित्य काम्यफलोंके निमित्तही देवताओंकी उपासना है; उसमें भी उनकी श्रद्धाका फल भगवान्ही देते हैं" २०-२३.

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यंतेऽन्यदेवताः॥
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताःस्वया॥ २०॥

जो पार्थ! विषयासक्त नर है वही अपने भावसे।
प्रेरे हुए उन उन विषयकी, कामनाके चावसे॥
निज ज्ञानसे हो भ्रष्ट उस उस नियमको धारन किये।
फिर अन्यदेवोंको भजे वह इन्द्र आदिक इसलिये॥ २०॥

ये सर्व उत्तम हैं उदारांहे किन्तु बुध मम आत्म है।
मत है हमारा क्योंकि ज्ञानी बुद्धि स्थिर युक्तात्म है॥
अतएव ज्ञानी श्रेष्ठतम हैं सदा मेरेमें रहा।
सर्वोच्चगाति मयसे हमारा लिये आश्रय सो रहा॥ १८॥

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते॥
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ १९॥

जो बहुत जन्मोंके विषे लें अन्तजन्म विषे वही।
हों प्राप्त तत्त्व विज्ञानको बुध जानता ऐसा सही॥
"है वासुदेव हि सर्व कुछ यह" मुझे भजते जो सदा।
वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ प्राप्त जगमें हो कदा॥ १९॥

"अनित्य काम्यफलोंके निमित्तही देवताओंकी उपासना है; उसमें भी उनकी श्रद्धाका फल भगवान्‌ही देते हैं" २०-२३.

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यंतेऽन्यदेवताः॥
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताःस्वया॥ २०॥

जो पार्थ! विषयासक्त नर है वही अपने भावसे।
प्रेरे हुए उन उन विषयकी, कामनाके चावसे॥
निज ज्ञानसे हो भ्रष्ट उस उस नियमको धारन किये।
फिर अन्यदेवोंको भजे वह इन्द्र आदिक इसलिये॥ २०॥

मतिहीन नर मेरे अनुत्तम परम अव्यय आत्मको।
है तत्त्वसे नहीं जानते अव्यक्त मुझ परमात्मको॥
मैं पुरुष माफक जन्म लेकर व्यक्तिभाव लिया इसे।
नर मानते, अव्यक्त भाव न, समझते मम है उसे॥ २४॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः॥
मूढोऽयंनाभिजानातिलोकोमामजमव्ययम्॥

जग योग मायासे छिपा मैं, प्रकट सबको हूं नहीं।
जड़ मुझे अव्यय औ अजन्मा इसीसे जाने नहीं॥
यों योगमाया जीवको कर मुग्ध पर करती नहीं।
परमात्मको इससे सदा मैं जानता सबको सही॥ २५॥

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन॥
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥२६॥

हे पार्थ! मैं त्रयकालके सब भूत थे हैं हों अभी।
जानता हूं किन्तु मुझको कोई न जाने हैं कभी॥
किस भाव मायाके फँसा नर ईशको जाने नहीं।
उसको बताऊं सुनो समझो भूलको चाहना नहीं॥ २६॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वंद्वमोहेन भारत॥
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यांति परंतप॥ २७॥

हे परन्तप! इस विश्वमें जो राग द्वेषोंसे हुए।
सुख दुःख द्वंद्व विमोह[1]से सब जीव संमोहित हुए॥

---

[1] विमोह, अपनेको यथार्थ रूपसे नहीं जानकर जड देहके रूपसे या तदनुकूल वर्णजाति और गोत्रनामसे समझना है।

अतएव करता कौन प्रभुके भजनको उसको कहैं।
जो द्वंद्व मोह न प्राप्त हो वह आत्म अनुभवको लहैं॥ २७॥

येषां त्वंतगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्॥
ते द्वंद्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥ २८॥

हे पार्थ! जिन पुण्यात्मजनके पाप जगमें कटगए।
वे द्वंद्व मोह विमुक्त होकर भजे मम दृढव्रत लिए॥ २८॥

"ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, आधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ सब एक परमेश्वरही हैं–यह जानलेनेसे अन्ततक ज्ञानसिद्धि होजाती है" २९–३०.

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतंति ये॥
तेब्रह्मतद्विदुःकृत्स्नमध्यात्मंकर्मचाखिलम्॥ २९॥

जग जरा मृत्यु विमुक्त होकर मुझे आश्रयकर करें।
जो लोग नित्यप्रयत्न वे परब्रह्मको अनुभव धरें॥
अध्यात्म. वस्तु समस्तको औ अखिल कर्महि जानते॥ २९॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः॥
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥ ३०॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञान योगो नाम सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥

जो मुझे अधिभूत दैवत अधियज्ञ भाव पिछानते।
वे चित्त मुझमें बांधके फिर मरणकाल सु ध्यावते॥
औ भूलते मुझको नहीं है नित्य "बदरी" पावते॥ ३०॥

(७)

इसतरह श्रीभगवान्के उपनिषदमें गायेहुए।
इस योगशास्त्र–प्रबोधविषयक ब्रह्मविद्यामें हुए॥
श्रीकृष्णअर्जुन वादमें यह पूर्ण सप्तमध्याय है।
इस "ज्ञानविज्ञानयोग" को जो पढे सो सुखपायहै॥

ॐ तत्सदिति पुष्करणा वंशावतंस शाण्डिल्यगोत्र ज्योतिर्विद् पण्डित कालूरामात्मजेन पुरोहित बदरीदासशर्मणा विरचितं हिन्दीपद्यमयश्रीमद्भगवद्गीतार्थप्रबोधे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥

अथ आठवाँ अध्याय।

"अक्षर ब्रह्मयोग"

अध्याय इसमें होरहा है ज्ञान औ विज्ञानका।
जो कर्मयोगान्तर्गतमें निरूपण उस ज्ञानका॥
और पिछले अध्यायमें जो ब्रह्मकर्मअध्यात्मके।
अदिभूत अधिदैवाधि यज्ञ रु विविधभेद परात्मके॥
था कहैं पहले उन्हीं सबका अर्थ बतलाकर किया।
है, विवेचन क्या तथ्य उनमें, सारमें गाया गया॥
अब यहांपर उस विषयको कुछ अधिक कहना चाहिये।
है जरूरी इससे खुलास क्रियाजाता जानिये॥
जो बाह्य सृष्टि सु देखनेसे जगत्कर्ताकी ओर।

कल्पना बहुविध लोग नाना रीतियें द्वारा करे ॥
हैं एक कहते सृष्टिके सब पदार्थ महाभूतके ।
सुविकार हैं तिहिं छोड़ तत्त्व न मूलमें भिन्न भूतके ॥
दूसरे कुछ लोग जैसा अध्याय चौथेमें कहा ।
वे यही प्रतिपादन करें यह यज्ञसे सब जगहुआ ॥
और परमेश्वर यज्ञमय है उन्हें सबही यज्ञसे ।
है पूजते इसलिये सारा जगत होता यज्ञसे ॥
कह तीसरे कुछ लोग ऐसे स्वयं जड पदार्थ नहीं ।
इस सृष्टिके व्यापार करते किन्तु उनमेंसे यही ॥
प्रत्येकमें कोई न कोई सचेतन रह पुरुष है ।
जो कि इन सब व्यवहारको वह सदाही करता रहै ॥
उस पुरुषकी आराधना नित चाहिये करना हमें ।
उदाहरणार्थ हि पांच भौतिक, सूर्यगोलकमें तुमें ॥
दिख सूर्य उपास्य पुरुष करता कृत प्रकाशनका महा ।
यों स्पष्ट शरजडभूतसे है पृथक चेतन स्फुट रहा ॥
पक्ष चौथेका कथन है प्रत्येक वस्तु विषे उसी ।
वस्तुसे भिन्न निवास अच्छा, मानना न सुरका किसी ॥
है पुरुष तनमें यथा आत्मा तथा ही प्रतिवस्तुमें ।
उस वस्तुका कुछनकुछ अतिअणु रूप हैं प्रतिवस्तुमें ॥
जो सूक्ष्म शक्ति निवास करती आत्मवत जिसमें रही ।
है मूल उसका और सच्चा रूप वास्तवमें वही ॥
उदाहरणार्थ हि स्थूल भूत कि सूक्ष्म तन्मात्रा कही ।
है हाथ पैरादीन्द्रियोंमें मूलमय अणु गो रही ॥

हैं इसी चौथे तत्त्वपर सांख्यजनका मत यही ।
सुदृढ अवलम्बित आत्म स्थित है एक प्रतिपुरुषहि नहीं ॥
हैं अलग अलग असंख्य पुरुषहि, सांख्यका विज्ञान है ।
पर जानपड़ता है कि वहांपर सांख्यमतका ध्यान है ।
' अधिदेह वर्गविषे यही है समावेश हि मानिये ।
इन चारपक्षोंको यथाक्रम यहां ऐसे समझिये ॥
आधिभूत औ अधियज्ञ है अधिदैव औ अध्यात्म है ।
शब्दके पीछे रहै अधि " उपसर्गसे " यह प्राप्त है ॥
है " तमधिकृत्य" रु "तद्विषयक" हि अर्थ होता दो यही ।
" उस विषयका " " उसमें रहा " है, चाहिये लेना सही ॥
इस अर्थके अनुसार जानों अनेकों सुरमें रहा ।
है तत्त्व " अधिदैवत " उसे ही, स्पष्टशास्त्रोंने कहा ॥
नर कहैं साधारणतया उस, शास्त्रको अध्यात्म है ।
जो करे प्रतिपादन यही कि " सर्वत्र एक ही आत्म है "
यह अर्थ है सिद्धान्तका इस, कथनको ले प्राप्त है ।
अनेकों वस्तु रु नरोंमें भी अनेकों ही आत्म हैं ॥
वेदान्तने आत्म्यैक्यका सिद्धान्त निश्चित करादिया ।
अतएव जब सुविचार करने पूर्वपक्षहि चितादिया ॥
माना सु जाता तब कि प्रति इक वस्तुका अणुरूप है ।
आत्मा वहांपर पृथक पृथक अध्यात्मका वही रूप है ॥
दे महाभारतमें उदाहरण-पुरुष इन्द्रियका वहीं ।
अध्यात्म है अधिदैवत रु अधिभूत दृष्टि न एकही ॥

विवेचनके इसतरह भिनाभिन भेद कैसे ये रहे ? ।
है महाभारतकार कहते पुरुष इन्द्रियका अहैं ॥
विवेचन जा सकता किया त्रय, रूपसे जैसे कहैं ।
अधिभूत है अध्यात्म औ अधिदैव ये तीनों रहैं ॥
इन इन्द्रियोंसे किये जाते विषयको जो ग्रहण हैं ।
उदाहरणार्थहि कियाजाता हाथसे जो ग्रहण हैं ॥
जो सुनाजाता कानसे है देखते हैं नयनसे ।
है और मनको कियाजाता, सदा चिन्तन मननसे ॥
वे सर्व है " अधिभूत " औ कर आदिकी अणु इन्द्रियें ।
इन्द्रियोंके अध्यात्म है वह किन्तु दोनों दृष्टियें.॥
छोड़कर अधिदैवत नजरसे मनन करनेपर यही ।
स्फुट मानकरके करों का है देवता–सुरपति सही ॥
हैं विष्णु पैरोंके गुदाके मित्र सुर हैं सब कहैं ।
है उपस्थ देव प्रजापति जो सृष्टि उपजाते रहैं ॥
औ वाकके है देव पावक चक्षुके रवि देवता ।
है कर्णके आकाश जल है जीभके प्रिय देवता ॥
है नाकके पृथ्वी त्वचाके, वायु मनके शशि कहै ।
अहँकारके है रुद्र उसके देवता वह पुरुष है ॥
यह कहाजाता देवतागण किया करते हैं सदा ।
व्यापार निजनिज इन्द्रियोंके लोग ये होकर मुदा ॥
उपनिषदमें भी उपासनाकेलिये ब्रह्मस्वरूपके ।
सुप्रतीक वर्णित है उन्हीं में कहा चित्त स्वरूपके ॥
अध्यात्म सूर्य प्रतीकया नभ, उसे अधिदैवत कहैं ।

अध्यात्म औ अधि दैवतविषे, भेद जपके हित कहे ॥
केवल किया है नहींपर जब, प्रश्न यह निर्णय किये ।
कि वाणी लोचन श्रोत्र आदिक, प्राणमें या इन्द्रियें ॥
है श्रेष्ठ कौन ? हि कहा श्रुति तब वार इक गो प्राणमें ।
अध्यात्म दृष्टिसे किया है विचार इन्द्रियप्राणमें ॥
हैं इन्द्रियोंके देवता जो, अग्नि सूर्य रु खं उन्हें ।
ले किया अधिदैवत नजरसे, विचार समझे जो इन्हें ॥
वह जानजाते त्रिविधका सब, भेदनाना हैं उसे ।
सारांश यह है उक्त तीनों भेद प्राचीन कालसे ॥
अधिभूत अधिदैवत अध्यात्महि चले आते है रहे ।
यह प्रश्न भी उस जमानेसे किया जाता है कहे ॥
परमात्मके बहु रूपकी इन कल्पनाओंमें सही ।
है कौन जगमें तथ्य उसको, समझ लेना है यही ॥
निजशिष्य उद्दालक प्रति यों याज्ञवल्क्यहिने कहा ।
" सब प्राणियोंमें और सारे देवताओंमें रहा ॥
अध्यात्म सबमें सब पुरोंमें, यज्ञसबमें व्याप्त हैं ।
और सब देहोंमें रहा है, एक विभु सर्वात्म हैं ॥
उनको न समझे तो भी वह है बचानेवाला उन्हें ।
है एक ही परमात्म सबमें, चाहिये लखना उन्हें ॥
उपनिषद सिद्धान्त ये ही, वेदान्तदर्शनमें कहा ।
अधिकरण अन्तर्यामिमें भी सिद्ध करते हैं वहां ॥
" सबोंके अन्तःकरणमें जो, निवासी तत्त्वात्म है ।
नहीं प्रकृति या जीवात्म है वह किन्तु वे परमात्म है " ॥

बस माफक इसी सिद्धान्तके पार्थको हरिने कहा।
जो उपनिषद् औ महाभारत मध्य वर्णन होरहा॥
नरदेहमें, सब प्राणियोंमें, यज्ञसबमें व्याप्त है।
सब देवताबिच कर्मसारे, वस्तुमें अध्यात्म है॥
एक ही परमेश्वर समाया हुआ जगमें नित्य है।
यज्ञादि नाना रहै अथवा विविधज्ञान न सत्य है॥
अधिभूत आदिक शब्दका जो सातवें अध्यायमें।
उल्लेख हरिने किया उनका अर्थ इस अध्यायमें॥
थी जाननेकी हुई इच्छा पार्थको इससे यही।
पूछता पहले समादर कृष्णसे ऐसे वहीः-

"अर्जुनके प्रश्नकरनेपर ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ और अधिदेहकी व्याख्या। उन सबमें एकही ईश्वर है" १-४.

॥ अर्जुन उवाच ॥

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम॥
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते॥ १॥

हे कृष्ण! जिसका आपने है किया वर्णन पूर्वमें।
वह ब्रह्म क्या अध्यात्म क्या हैं वस्तु इस जग सर्वमें॥
फिर कर्म है क्या वस्तु औ अधिभूत किसको कहत हैं।
अधिदैव कौन पदार्थ है अधियज्ञ किसको कहत हैं?॥ १॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ॥
प्रयाणकाले च कथंज्ञेयोसि नियतात्मभिः ॥

इस देहमें अधियज्ञकी स्थिति कहो कैसी हैं प्रभो ! ।
औ मरणकाल स्वचित्तसंयत पुरुषद्वारा तुम विभो ! ॥
किस तरह जानेजात हो सो कृष्ण ! मधुसूदन ! कहो ?
इन सात प्रश्नोंके समुत्तर सुनत भव कर हित चहो ॥ २ ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ॥
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥
अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ॥
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥

जो नाश बिन कूटस्थसे परब्रह्म सो परमात्म है ।
प्रत्येक वस्तु रु ब्रह्मका निजभाव ही अध्यात्म है ॥
उत्पत्ति सब चर अचरकी कर सृष्टिके व्यापारको ।
वह कर्म कहलाता सुनो क्षर भावके संसारको ।
अधिभूत कहते पुरुषको अधिदैव अर्जुन जानिये ।
इस देहमें अधियज्ञ मैं हूं स्मरण करना चाहिये ३-४ ॥

" अन्तकालमें भगवत्स्मरणसे मुक्ति "५.

अंतकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ॥
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥

---

१ जो नाशवान् वस्तु है उसे ही अधिभूत कहते हैं ।

नर मुझे ही मरते समयमें स्मरण जो रखते सही ।
तनुछोड़कर प्रस्थान करते भाव मम पाते वही ॥
इसमें नहीं संदेह कुछ भी किसीको करना कभी ।
हैं क्योंकि अन्त स्वकालमें जप मुझे मिलजाते सभी ॥ ५ ॥

"जो भाव मनमें नित्य रहता है, वही अन्तकालमें भी रहता है; अतः सदैव भगवान्का स्मरणकरने और युद्धकरनेके लिये उपदेश६--७.

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यंते कलेवरम् ॥
तं तमेवैति कौंतेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥

कौंतेय ! मरनेके समय जिस किसीके भी भावको ।
नरचित्तमें धारण करे फिर छोड़दे इस देहको ॥
सब समयमें जिस भावसे आविष्ट होकर जो रहै ।
वह उसीको पाता इसीसे सदा मम सुमिरण रहै-॥ ६ ॥

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ॥
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७ ॥

फिर युद्धमय निजधर्मपालन करो अर्जुन प्रेमसे ।
इस तरह मुझमें बुद्धि मनको लगाकर नित नेमसे ॥

हे पार्थ ! मुझसे ही मिलोगे लेश संशय है नहीं।
अतएव मेरी प्राप्तिके हित ध्यान यों करना सही ॥ ७ ॥

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ॥
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिंतयन् ॥ ८ ॥

हे पार्थ ! नित अभ्यास योगहि युक्त हो रत आत्ममें।
मनको लगाना दिव्यपरमहि पुरुषमय परमात्ममें ॥
औ उन्हीं प्रभुका सदा चिन्तन किये जाना चाहिये।
जिससे उन्हींको प्राप्त होकर परमआनँद पाइये ॥ ८ ॥

"अन्तकालमें परमेश्वरका-अर्थात् ॐकारका समाधि-पूर्वकध्यान और उसका फल" ९-१३.

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ॥
सर्वस्य धातारमचिंत्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९ ॥

अतएव जो सर्वज्ञ अनादि नियन्ता सबके रहैं।
हैं सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मअति सब जीवके धाता कहैं ॥
मनबुद्धिसे जिसका अगोचर रूप रविवत भासता।
तमसे परे सु विराजते सत चिदानन्दहि जानता ॥ ९ ॥

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ॥

भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्-
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ १० ॥

उन परात्माको यादकर जो अन्तकाल सुधारता ।
वह भक्तिसे हो युक्त निश्चल चित्तवृत्ति निरोधता ॥
फिर योगके बल युगलभ्रूबिच प्राणसम्यक स्थित धरें ।
हिय स्मरणकर उन परमपुरुषहिं प्राप्त मुझको सो करें ॥१०॥

यदक्षरं वेदविदो वदंति
विशंति यद्यतयो वीतरागाः ॥
यदिच्छंतो ब्रह्मचर्यं चरंति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥

जो वेदविद जिस परमपदको ओम अक्षर कहत हैं ।
आसक्ति विन यतिलोग जिसमें नित-प्रवेशहि करत हैं ॥
जिस परमपदकी चाहसे कर ब्रह्मचर्याचरण है ।
उस परमपदको कहूंगा संक्षेपसे सुखकरण है ॥ ११ ॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ॥
मूर्ध्न्याधायात्मनःप्राणमास्थितोयोगधारणाम् १२

वह है तुमारे लिये अर्जुन ! बताता हूं इसलिये ।
सब विषयद्वारोंका सु संयम इन्द्रियोंको कीजिये ॥
औ हृदयमें मन रोककरके प्राणशक्तिको तदा ।
शिरमध्य ठहराकर समाधि रु योगधर कहते सदा ॥ १२ ॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ॥
यःप्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥१३॥

ओम एकाक्षर ब्रह्मजप मम स्मरणकर तनु तजगये ।
वे परमगति-मय ब्रह्मपदको प्राप्तयोगी होगये ॥ १३ ॥

" श्रीभगवान्‌का नित्य चिन्तनकरनेसे पुनर्जन्मनाश; ब्रह्मलोकादिगतिएं नित्य नहीं है " १४-१६.

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ॥
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ १४

अन्यत्र मनको लगाता नहिं पार्थ ! जो मुझको मुदा ।
नर निरन्तर चिन्तनकरे उस युक्तयोगी हिव सदा ॥
मैं अनायासहि प्राप्त हो हूं सहजमें मिलता मुझे ॥ १४ ॥

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ॥
नाप्नुवंति महात्मानः संसिद्धिंपरमांगताः ॥ १५॥

यों परमसिद्धि सु प्राप्त करके महात्मा मिलके मुझे ।
क्षणनाशि जो है दुःखघर अस जन्म पुनि पाते नहीं ॥१५॥

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ॥
मामुपेत्य तु कौंतेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥

--हे पार्थ ! ब्रह्म सुलोकतकसे लोग आ जाते सही ।
कौंतेय ! पर नर मुझे पाकर पुनर्जन्म न लें कभी ।
क्योंकि मैं हूं इस कालके पर किन्तु लोक न हो सभी ॥१६॥

" ब्रह्मका दिनरात, दिनके आरंभमें अव्यक्तसे सृष्टिकी उत्पत्ति और रात्रिके आरंभमें उसीमें लय " १७-१९.

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ॥
रात्रिं युगसहस्रांतांतेऽहोरात्रविदोजनाः ॥ १७ ॥

युग चार सहस्रहिवार आवें एक दिन विधिका कहै ।
त्यों रात्रि चारों सहस्रयुगकी पुरुष जो जानत रहैं ।
वे अहोरात्र सु विज्ञ योगी कालतत्त्वहि जानते ॥ १७ ॥

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवंत्यहरागमे ॥
रात्र्यागमे प्रलीयंते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ १८ ॥

सर्व प्राणी ब्रह्मके दिन अव्यक्तसे हो मानते ।
अजरात्रिके जु प्रवेशकालहि उसीमें लय होत हैं ।
हे पार्थ ! वे ही कल्पगतके जीव सब फिर होत है ॥ १८ ॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ॥
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ १९ ॥

हो कर्मके वश बारबारहि जन्मको धरते हुए।
अजरात्रिमें कारणविषे लय प्रकट फिर दिनमें हुए ॥ १९ ॥

" इस अव्यक्तसे भी परेका अव्यक्त और अक्षर पुरुष भक्तिसे उसका ज्ञान और उसकी प्राप्तिसे पुनर्जन्मका नाश "२०-२२

परस्तस्मात्तु भावोऽन्यो ऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः॥
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ २०॥

पर जो उसी अव्यक्तसे पर दूसरा गोतीत है ।
अज सनातन अव्यक्त भावहि कहा सर्वातीत है ॥
वह सर्व प्राणी नाशसेभी नष्ट नहीं होता कभी ॥ २० ॥

अव्यक्तोऽक्षरइत्युक्तस्तमाहुः परमांगातिम् ॥
यं प्राप्य न निवर्तंते तद्धाम परमं मम ॥ २१ ॥

अव्यक्त अक्षरभाव कहते परमगति उसको सभी ।
जिस भावको ले पुनःजगमें लौटना पड़ता नहीं ।
है दिव्य मेरा परमधामहि सनानत सुखप्रद वही ॥ २१ ॥

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्यालभ्यस्त्वनन्यया ॥
यस्यांतःस्थानिभूतानियेनसर्वमिदंततम् ॥ २२ ॥

हे पार्थ ! जिस परमात्मेक बिच भूतसारे स्थित रहैं ।
औ जिस सच्चिदानन्द घनसे जीव सब पूरित रहैं ॥
वह सनातन अव्यक्त परमहिं पुरुष जानन योग्य है ।
केवल अनन्य सु भक्तिद्वारा वही पाने योग्य है ॥ २२ ॥

"देवयान और पितृयाणमार्ग; पहला पुनर्जन्म नाशक है दूसरा इसके विपरीतहै ।"२३--२६.

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ॥
प्रयाता यांति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥

भरतर्षभ ! जिस कालमें तनु, छोड़कर योगी चलें।
पीछे न आते और आते उभय गतिमें जो मिले ।
उस मार्गको तुमसे कहूं सुन विश्वहितको सोचते-॥ २३ ॥

अग्निर्ज्योतिरहःशुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ॥
तत्र प्रयाता गच्छंति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥

--जिस समय ज्योति रु अग्नि दिन है शुक्लपक्ष न लौटते ।
षटमास उत्तरायण रहे रवि उसी पथ मरकर गये ।
जो ब्रह्मविद् योगी सभी वे ब्रह्मको पातेहुए ॥ २४ ॥

धूमोरात्रिस्तथाकृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ॥
तत्र चांद्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥२५॥

है धूम रात्रि रु पक्षकृष्णहि दक्षिणायन रवि अहैं ।
उस मार्गसे मरकर चले सो चन्द्रज्योतिहिं पा रहैं ॥ २५ ॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ॥
एकयायात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः ॥ २६॥

है सकामी योगी उसे मिल स्वर्गफल सब भोगते ।
फिर लौटकर आते यहींपर मोक्ष सुख नहीं खोजते ॥ २६ ॥

" इन मार्गोंके तत्त्वको जाननेवाले योगीको अत्युत्तम फल मिलता है । अतः तदनुसार सदा व्यवहार करनेका उपदेश२७-२८

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ॥
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ २७॥

हे पार्थ ! इन दोनों पथोंको जानकर कोई कभी।
योगी विमोहित हों न इससे वही तूँ हो दिन सभी।
समबुद्धिमय हो योगयुक्त रु निरन्तर मेरे लिये।
साधन सदा करतेहुए कर्तव्य अपना पालिये॥ २७॥

वेदेषु यज्ञेषु तपस्सु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्॥
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥ २८॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्म योगो नामाऽष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

है "कर्मयोगी" पुरुष ऐसे तत्त्वको स्फुट जानके।
श्रुति--यज्ञ तप दानादिके फल कहैं वे सब डाकके॥
उत्कृष्ट योगैश्वर्यको लें ब्रह्मपदके लाभको।
जाता सनातन परमपद कह मोक्ष "बदरी" धामको॥२८॥

(८)

इस तरह श्रीभगवान्के उपनिषदमें गाये हुए।
इस योगशास्त्र प्रबोधविषयक ब्रह्मविद्यामें हुए॥
श्रीकृष्णअर्जुनवादमें यह पूर्ण अष्टमध्याय है।
जो पढे "अक्षर ब्रह्मयोगहि" ब्रह्मको पा जाय है॥

ॐ तत्सदिति पुष्करणा वंशावतंस शाण्डिल्यगोत्र ज्योतिर्विद् पण्डित कालूरामात्मजेन पुरोहित बदरीदासशर्मणा विरचितं हिन्दीपद्यमयं श्रीमद्भगवद्गीतार्थप्रबोधे "अक्षरब्रह्मयोग नाम" काष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

अथ नवाँ-अध्याय ।

" राजविद्या राजगुह्य योग "

अध्याय सप्तममें निरूपण ज्ञान औ विज्ञानको ।
है किया इसलिये कि-कर्त्ता योग आचरन वानको ॥
उस दिव्य श्री परमात्मके स्फुट, पूर्ण ज्ञान लिये जिसे ।
हो शान्तिमनकी मुक्तस्थितिकी प्राप्ति कैसे हो उसे ॥
अव्यक्त अक्षर पुरुषका वह रूप भी बतलादिया ।
अध्याय पिछले बीच कहा कि अन्तकाल विषे किया ॥
जो उस स्वरूपहि चित्तमें स्थिर बनाये रक्खें सदा ।
पातञ्जलीके योगद्वारा समाधि करते मुदा ॥
अन्तमें प्रणवोपासनाको, हृदयमें योगी करें ।
पर प्रथम अक्षर ब्रह्मकाही ज्ञान बहु दुष्कर अरे ॥
और फिर उसमें समाधिकी जरूरतसे कठिन है ।
अतएव साधारण जनोंको पड़ेगा तजना कहे ॥
इस कठिनतापर ध्यान देकर बताते हरि अब उसे ।
ऐसा सुलभ सदुपायको है जानकर सुख लें जिसे ॥
यह राजपथ ऐसा कि जिससे सर्वसाधारण लहैं ।
परब्रह्मका हो ज्ञान सुलभाहि भक्ति पथ जिसको कहैं ॥
इस मार्गमें परमात्मका वह प्रेमगम्य स्वरूप है ।
प्रत्यक्ष जानन योग्य रहता व्यक्त दिव्य अनूप है ॥
यों इसी व्यक्त स्वरूपका है नवें दशवें ग्यारहवें ।
औ निरूपण विस्तृत हुआ-अध्याय सुखप्रद बारहवें ॥

फिरभी तुमें यह स्मरण रहै कि " भक्ति पथ स्वतन्त्र नहीं ।
है कर्मयोगकी सिद्धिके हित अङ्गरूप सु तन्त्र वही ॥
आरंभ सप्तमध्यायमें है किया ज्ञानविज्ञानका ।
है भाग उनका एक भक्ति सु दिव्यसुलभ विज्ञानका ॥
अतएव इस अध्यायका आरंभभी पिछले किये ।
उन ज्ञान औ विज्ञान अङ्गाकि दृष्टिसे करते हुए ॥

" ज्ञान विज्ञानयुक्त भक्तिमार्ग मोक्षप्रद होने-पर भी प्रत्यक्ष और सुलभ है, अतएव राजमार्ग है " १-३.

नवमोऽध्यायः ।

॥ श्रीभगवानुवाच॥

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ॥
ज्ञानंविज्ञानसहितंयज्ज्ञात्वामोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१॥

अति गोपनीय हि रहा अनुभव–युक्त इस निजज्ञानको ।
तुझ दोष दृष्टि सु रहितके हित कहूंगा प्रियप्रानको ॥
तूं जान जिसको दुःखमय–संसारसे छुट जायगा–॥ १ ॥

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ॥
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥

–यह राजविद्या राजगुह्य पवित्र उत्तम पायगा ।
प्रत्यक्षफलवाला यही निज धर्म मोक्षकरें सही ॥
है सुगम साधन योग्य शुभ औ सदा अव्यय है वही ॥ २ ॥

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ॥
अप्राप्य मां निवर्तंते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

हे परन्तप ! इस आत्मज्ञान जु परमधर्म विषे नहीं।
श्रद्धा करे वह पुरुष मुझको प्राप्त होता है नहीं ॥
औ मृत्युसे हो व्याप्तभवमें घूमते फिरते सही।
ले जन्म बारम्बार आते और जाते हैं वही ॥ ३ ॥

"परमेश्वरका अपारयोग सामर्थ्य। वे प्राणिमात्रमें रहकर भी उनमें नहीं है; और प्राणिमात्र भी उसमें रहकर नहीं है" ४--६.

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ॥
मत्स्थानि सर्वभूतानिनचाहंतेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥

उस अतीन्द्रिय मेरी सत्तासे विश्व यह सब व्याप्त है।
सब जीव मुझमें रहत स्थावर जंगमन भव प्राप्त हैं ॥
प्रिय ! किन्तु मैं उनमें नहीं हूं और वे मुझमें नहीं-॥ ४ ॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ॥
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥

--महिमा अलौकिक हो कैसी देख मेरी यह रही।
उत्पन्न भूतोंको करूं मैं पालनेवाला उन्हें ॥
फिरभी हमारा आत्म उनमें नहीं है समझो इन्हें ॥ ५ ॥

यथाऽकाशस्थितोनित्यंवायुःसर्वत्रगोमहान् ॥
तथासर्वाणिभूतानिमत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥

सर्वत्र चरनेवाला वायु जु सदा नभमें रह यथा ।
सबभूत मुझमें रहैं अर्जुन जान यह है स्फुट कथा ॥ ६ ॥

"मायात्मकप्रकृतिके द्वारा सृष्टिकी उत्पत्ति और संहार, भूतोंकी उत्पत्ति और लय । इतना करनेपर भी वह निष्काम है अत एव अलिप्त है" ७–१०.

सर्वभूतानि कौंतेय प्रकृतिं यांति मामिकाम्॥
कल्पक्षयेपुनस्तानिकल्पादौविसृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

कौंतेय ! कल्पाहि अन्तमें सब, भूत मेरी प्रकृतिमें ।
लय होत हैं फिर कल्प आदिहि रचूं उनको सुकृतिमें ॥ ७ ॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ॥
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

निजप्रकृतिपर अधिकार कर रु स्वभावके वश जो हुए ।
परतन्त्र उन सब भूतगणको बार बहु मैंने किए ॥ ८ ॥

न च मां तानि कर्माणि निबध्नंति धनंजय ॥
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

धनंजय ! उस सृष्टिकृतमें आशक्ति बिन रहता तथा ।
हूँ उदासी इससे मुझे नहीं बांधती कर्मन प्रथा ॥ ९ ॥

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ॥
हेतुनाऽनेन कौंतेय जगद्विपरिवर्तते ॥ १० ॥

कर, निमित्तकारण प्रकृति मम-अध्यक्षतामें जग सभी।
होता चराचर विश्व अर्जुन ! बार बार अहो तभी ॥ १० ॥

"इसे विना पहचाने, मोहमें फँसकर, मनुष्य देहधारी परमेश्वरकी अवज्ञाकरनेवाले मूर्ख और आसुर हैं ११-१२.

अवजानंति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ॥
परं भावमजानंतो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥

सब भूतगणका हूं महेश्वर भाव परम न जानते।
वे मूढजन नरदेहधारी मुझे तुच्छहि मानते ॥ ११॥

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ॥
राक्षसीमासुरींचैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥

तो व्यर्थ आशा व्यर्थ कर्म रु बोध उनका व्यर्थ है।
लें भ्रष्टमन ऐसे पुरुष गति मोहिनीको व्यर्थ है॥
जो तामसी औ राजसीकी प्रकृतिको धारण किये।
रहते सदा हैं जीव ये सब असुर जगक्षयके लिये ॥ १२॥

"ज्ञान यज्ञके द्वारा अनेकप्रकारसे उपासना करनेवाले दैवी है १३-१५.

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवींप्रकृतिमाश्रिताः ॥
भजंत्यनन्यमनसोज्ञात्वाभूतादिमव्ययम् ॥ १३ ॥

हे पार्थ ! दैवी प्रकृतिको जो महात्मा आश्रित हुए।
वे मुझे सारे भूतगणका सनातन कारण लिये ॥
अव्यक्त अक्षर जानते हैं चित्त और न डालते ॥ १३ ॥
वे निरन्तर भजते सदा मम ध्यानसे नहीं हालते ॥

सततं कीर्तयंतो मां यतंतश्च दृढव्रताः॥
नमस्यंतश्चमांभक्त्यानित्ययुक्ताउपासते ॥ १४ ॥

फिर स्तोत्र आदिकसे हमारा कीर्तन निशिदिन करें।
दृढव्रती होकर यत्न करते भक्तिसे झुकते अरे॥
करते मुझे नमस्कार मुझमें युक्त हो जपते सदा- ॥ १४॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजंतो मामुपासते ॥
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधाविश्वतोमुखम् ॥ १५ ॥

-है और भी कोई उपासत ज्ञान यज्ञाहिसे मुदा।
जो मुझ विराट स्वरूपको जप पार्थ ! भेद अभेदसे।
सोपासते बहुभांतिसे फिर भाव पृथक प्रभेदसे॥ १५ ॥

"ईश्वर सर्वत्र है, वही जगतका मा-बाप है, स्वामी है, पोषक है और भले बुरेका कर्त्ता है" १६--१९.

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहममौषधम् ॥
मंत्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ १६॥

मैं श्रोत क्रतु हूं स्मार्त यज्ञ रु स्वधा हूं औषध रहूं।
हूं मन्त्र आज्य रु अग्नि हुत जो हवन कारज मैं रहूं ॥ १६॥

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ॥
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक् सामयजुरेवच ॥ १७ ॥
गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत ॥
प्रभवःप्रलयःस्थानंनिधानंबीजमव्ययम् ॥ १८ ॥

इस विश्वका हूं पिता माता पितामह धाता रहा ।
हूं ज्ञेय-वस्तु पवित्र साधन "प्रणव" मैं ही हूं महा ॥
त्रय वेद भी मैं सवकी गति पाथ ! भर्त्ता[1] ईश हूं ।
शुभ अशुभ कर्मोंका सुसाक्षी, शरण-स्थल जगदीश हूं ।
सब जीव आश्रय स्थान हूं मैं सुहृद स्रष्टाऽऽधार[1] हूं ॥
संहारकर्त्ता और लय स्थल बीज अव्यय सार हूं ॥ १७-१८॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ॥
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १९ ॥

रवि रूपसे तपता रहूं मैं वृष्टिको करता कभी ।
फिर रोकलेता उसे मैं हूं मृत्यु और अमृत सभी ॥
मैं सत्य अविनाशी रहा हूं असत रूप विनाशि हूं ।
अतएव अर्जुन विश्वतोमुख जान मैं सुख राशि हूं ॥ १९ ॥

"काम्य श्रौत यज्ञ याग आदिका दीर्घउद्योग यद्यपि स्वर्गप्रद है, तो भी वह फल अनित्य है" २०-२२.

---

१ सबको रचनेवाला, सब ही आधार ।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयंते ॥
तेपुण्यमासाद्य सुरेंद्रलोक-
मश्नंति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥ २० ॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशंति ॥
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभंते॥

ऋक साम यजुरत वेद विद्या पूजते मखसे मुझे।
मख शेष करके सोमपान रु पाप धोकर वे मुझे ॥
कर स्वर्गसुख हित प्रार्थना औ पुण्य फलप्रद इन्द्रके ।
प्रिय पुरोंको जाकर वहीं दिवि श्रेष्ठभोग सुरेन्द्रके ।
हैं सुखद दिव्य विशाल सब सुख बहुतकाल हि भोगते ।
क्षय पुण्य होते ही गिराते मृत्युलोक कुयोगते ॥
यों अज्ञ वैदिकधर्म दिविरत व्यक्तियोंका हैं बना ।
आवागमनका चक्र जिसमें घूमते मेरे बिना ॥
मम शरण लेनेसे हुए क्या बताता जिससे बनो- ।
-हे पार्थ ! मेरे भक्त इससे भक्तका जीवन सुनो ॥ २०-२१॥

अनन्याश्चितयंतो मां ये जनाः पर्युपासते ॥
तेषांनित्याभियुक्तानांयोगक्षेमंवहाम्यहम् ॥ २२ ॥

जो और चित्त न कहीं देकर सदा मम चिन्ता किये ।
करते उपासना लोग मेरी नित्य मुझमें रतहुये ॥

हे पार्थ ! उनका योग क्षेम हि चलाता हूं मैं सभी ।
स्थिर प्रज्ञ मेरे भक्तजनकी स्वयं सुध लेऊं तभी ॥ २२ ॥

" अन्यान्य देवताओंकी भक्ति पर्यायसे परमेश्वरकीही होती है; परन्तु जैसी भावना होगी और जैसा देवता होगा; फलभी वैसाही मिलेगा" २३–२५.

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजंते श्रद्धयान्विताः ॥
तेऽपिमामेवकौंतेययजंत्याविधिपूर्वकम् ॥ २३ ॥

जो भूलकर मेरी विभूति रु निरी देवार्चन करे ।
जिससे मिले क्या लाभ उसको बताऊँ जगहित अरे ? ॥
कौंतेय ! श्रद्धायुक्त हो जो अन्य देवार्चन करें ।
वे भक्त भी अज्ञानपूर्वक मुझेही पूजे खरे ॥ २३ ॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ॥
नतु मामभिजानंति तत्त्वेनातश्च्यवंति ते ॥ २४ ॥

क्योंकि मैं ही सुररूपसे सब यज्ञका भोक्ता तथा ।
अधियज्ञ मैं हूं अधिष्ठाता किन्तु वे मेरी कथा ॥
पहचानते मुझको नहीं है इस यथार्थ सुभावसे ।
अतएव श्रेयसमार्गसे च्युत होत हैं दुरभावसे ॥ २४ ॥

यांति देवव्रता देवान् पितॄन्यांति पितृव्रताः ॥
भूतानियांतिभूतेज्या यांतिमद्याजिनोऽपिमाम् २५

यों देवताओंको लहेंगे सुरोपासक गण सभी।
जग हैं उपासक पितरगणके मिलें पितरोंसे सभी॥
जो उपासक भूतगणके पाय भूतोंको वही।
औ ब्रह्ममय मुझके उपासक मुझेही पातें सही॥ २५॥

"भक्ति हो तो परमेश्वर फूलकी पँखुरीसे भी सन्तुष्ट होजाता है" २६.

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति॥
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥ २६॥

जो पत्र पुष्प रु तोय फलको, भक्तिसे देते मुझे।
यों अनायासहि प्राप्त जो कुछ वस्तु देते हैं मुझे॥
है शुद्धमन निजभक्तकी शुभ भक्तिसे अर्पित उसी।
वस्तुको मैं ग्रहण करता सदा उनके हूं वशी॥ २६॥

"सब कर्मोंको ईश्वरार्पण करनेका उपदेश इसीके द्वारा कर्मबन्धनसे छुटकारा और मोक्ष" २७-२८.

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्॥
यत्तपस्यासिकौंतेय तत्कुरुष्वमदर्पणम्॥ २७॥

कौंतेय करते कर्म जो कुछ भक्ष करते हवन हो।
तप दान करते हो सभी ये मुझे अर्पण कर रहो॥ २७॥

शुभाशुभफलैरेवं मोक्षसे कर्मबंधनैः ॥
संन्यासयोगयुक्तात्माविमुक्तोमामुपैष्यासि ॥ २८ ॥

जिससे शुभाशुभकर्मफलके बंधनोंसे मुक्त हो ।
कर सर्व कुछ मुझमें समर्पण योगमें तूँ युक्त हो ॥
यों कर्मबंधन काटके नर मुझे पाकर हो सुखी ।
जो भक्त मेरा भजन करता नहीं होता वह दुखी ॥ २८ ॥

" परमेश्वर सबको एकसा है । दुराचारी हो या पापयोनि स्त्री हो या वैश्य या शूद्र, निःसीम भक्त होनेपर सबको एकही गति मिलती है "--२९--३२.

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ॥
ये भजंतितुमांभक्त्यामयितेतेषुचाप्यहम् ॥ २९ ॥

हूं सर्वको इकसार सम--कोई न प्यारा है बुरा ।
पर भक्तिसे जो लोग मुझको सदाही भजते खरा ॥
वे रहैं मुझमें और मैं भी उन्हींमें स्थित हूं सुदा--॥ २९ ॥

अपिचेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ॥
साधुरेवसमंतव्यः सम्यग्व्यवसितोहिसः ॥ ३० ॥

--अतएव कोई दुराचारी मुझे यदि भजता सदा ।
होकर अनन्यहि भक्तिसे जो निरन्तर जपता गया ॥
वह साधु है यह समझना नित क्योंकि निश्चय सत लिया ३०

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छांतिं निगच्छति ॥
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥३१॥

है, पुरुष ऐसा शीघ्रही धर्मातमा होता यही।
औ शाश्वती प्रिय शान्तिको जग, प्राप्त करता है वही॥
कौंतेय! कह सकते सभीको प्रतिज्ञा-पूर्वक यही।
मम भक्तका है नाश इहपर[1] कहींभी होता नहीं॥ ३१॥

मांहि पार्थव्यपाश्रित्य येऽपिस्युः पापयोनयः॥
स्त्रियोवैश्यास्तथाशूद्रास्तेऽपियांतिपरांगतिम् ३२

हे पार्थ! जिनकी हुई उत्पात्ति पापयोनिनके विषे।
वे स्त्रिएं वैश्य रु शुद्रभी जब शरण हो मेरे विषे॥
हैं परमगतिको प्राप्त करते मिलूं मैं निश्चय उन्हें- ॥ ३२॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ताराजर्षयस्तथा॥
अनित्यमसुखंलोकमिमं प्राप्यभजस्वमाम् ॥ ३३॥

-तब पुण्ययोनि हि प्राप्त ब्राह्मण भक्त राजर्षी जिन्हें।
क्या मोक्ष मिलती इस विषयमें रहा फिर कहना तुझे?।
अतएव तूं इस अनित्य असुख[2]लोकमें हैं भज मुझे॥ ३३॥

"यही मार्ग अङ्गीकार करनेके लिये अर्जुनको उपदेश" ३४.

---

१ इसलोक और परलोक। २ मनुष्य शरीरमें आयाहुआ है।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ॥
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानंमत्परायणः ॥ ३४ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः९॥

मुझमें लगा मन भक्त मेरा होय मम-पूजा करो ।
औ मुझे ही नमते रहो नित मत्परायण हो करो ॥
इस योगका अभ्यास जिससे सर्व बन्धन मुक्त हो ।
फिर करोगे तुम प्राप्त मुझको सदा " बदरी " मुक्त हो ३४

(९)

इस तरह श्रीभगवानके उपनिषदमें गाये हुए ।
इस योगशास्त्र प्रबोधविषक ब्रह्मविद्यामें हुए ॥
श्रीकृष्ण अर्जुन वादमें यह पूर्ण नवमाध्याय है ।
" राजविद्या राजगुह्य हियोग लख प्रभु-पाय है ॥

ॐ तत्सदिति पुष्करणा वंशावतंस शाण्डिल्यगोत्र ज्योतिर्विद् पण्डित कालूरामात्मजेन पुरोहित बदरीदासशर्मणा विरचितं हिन्दीपद्यमय श्रीमद्भगवद्गीतार्थप्रबोधे " राजविद्याराजगुह्य योग " नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

ॐतत्सत् ।

अथ दशवाँ अध्याय.

" विभूतियोग "

अध्याय गतमें कर्मयोगाकि सिद्धिहित वर्णन किया ।
जो व्यक्त रूप-उपासनाका राजपथ बतलादिया ॥

हैं उसी ईश्वर रूपका इस सुखद दशवांध्यायमें।
यों हुआ वर्णन पूछनेपर पार्थके अध्यायमें॥
प्रभुकी अनेकों व्यक्त रूप कि विभूतियें वर्णन करी।
जब वही वर्णन सुनंत सादर पार्थके मन उस घरी॥
भगवानके प्रत्यक्ष रूपाहि देखनेकी रुचि हुई।
अतएव आगे ग्यारहवेंमें पार्थ देखेंगे वही॥
सु कृतार्थ हरिने किया अपना विश्वरूप दिखा जिसे।
उन्हींकी अव विभूतियोंको सुनो देखो तुम उसे॥

यह जानलेनेसे पापका नाश होता है कि अजन्मा परमेश्वर देवताओंसे और ऋषियोंसे भी पूर्वका है" १-३.

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः॥
यत्तेहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥ १॥

हे महाबाहो! वचन मेरे परमप्रिय तुम फिर सुनो।
तव हितेच्छासे कहूंगा जो प्रेम अतिशय है बनो॥ १॥

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः॥
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥ २॥

हे पार्थ ! मेरी उत्पत्तिको देवगण भी न जानते ।
जानते नहीं महर्षिगण भी आदि कारण मानते ॥ २ ॥

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ॥
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

हूँ क्योंकि मैं ही सब तरहसे देवगण रु महर्षिका ।
इक आदिकारण इसीसे मोंहिं ज्ञान है सुरमहर्षिका ॥
जो लोकका मुझको महेश्वर अनादि रु अज मानते ।
वह नरोंमें बुध सर्वअघसे मुक्त हो यों जानते ॥ ३ ॥

" ईश्वरी विभूति और योग । ईश्वरसे ही बुद्धि आदिभावोंकी, सप्तर्षियोंकी और मनुकी एवं परम्परासे सबकी उत्पत्ति " ४-६.

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ॥
सुखं दुःखं भवो भावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥

धी क्षमा ज्ञानहि असंमोह रु सत्य शम दम भाव हो ।
सुख दुःख उत्पत्ति नाश भय औ अभय अहिंसा भाव हो॥४ ॥

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ॥
भवंति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥

औ तुष्टि समता दान तप यश अयश जीवोंके सभी ।
ये अलग अलग सु भाव मुझसे होत उत्पन्न हैं सभी ॥ ५ ॥

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ॥
मद्भावामानसाजातायेषांलोक इमाः प्रजाः ॥६ ॥

भृगु आदि सप्त महर्षिसे भी पूर्व सनकादिक हुए।
फिर पार्थ ! चौदह हुए मनु मम, भावसे सब जन हुए॥
सन्तान मानस है हमारी ब्राह्मणादिक ये सभी।
जिनकी प्रजा यह सर्व हैं चर अचर प्राणी जग सभी॥ ६॥

"इसे जाननेवाले भगवद्भक्तोंको ज्ञान प्राप्ति; परन्तु उन्हे भी बुद्धि व सिद्धि भगवान् ही देते हैं" ७-११.

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः॥
सोऽविकंपेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥ ७॥

फल बताऊँ निजविभूतिनका सुनो चित्त देकर जरा।
मेरी विभूति रु योगको जो तत्त्वसे जाने खरा॥
वह युक्त हो जाता सदा स्थिर आत्मके इस योगमें।
सन्देह इसमें नहीं कुछ भी जानना इस लोगमें॥ ७॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते॥
इति मत्वा भजंते मां बुधा भावसमन्विताः॥ ८॥

सब विश्व उत्पत्ति हेतु मैं हूं सभी मुझसे हो सजे।
यह जानकर बुध भक्ति श्रद्धा युक्त हो मुझको भजे॥ ८॥

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयंतः परस्परम्॥
कथयंतश्च मां नित्यं तुष्यंति च रमंति च॥ ९॥

मन प्राणको मुझमें लगा नित परस्परकर बोध जे।
मम कथनकर सन्तुष्ट होते रमण मुझमें कर-भजे॥ ९॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ॥
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयांति ते ॥ १० ॥

यों निरन्तर मुझमें लगे जो प्रेमसे भजते सदा।
उन सज्जनोंको बुद्धियोगहि परम देताहूं तदा ॥
जिससे मुझे वे प्राप्त होवें जरा संशय है नहीं–॥ १० ॥

तेषामेवानुकंपार्थमहमज्ञानजं तमः ॥
नाशयाम्यात्मभावस्थोज्ञानदीपेनभास्वता॥११॥

–मैं स्वयं उनपर कृपाकरने पार्थ ! उनके हित वहीं।
होकर प्रतिष्ठित बुद्धिमें निज ज्ञानदीप प्रकाशसे।
अज्ञान-मय तमका सदा क्षय करूँ स्वात्मविकाशसे ॥ ११ ॥

"अपनी विभूति और योग बतलानेके लिये भगवान्से अर्जुनकी प्रार्थना" १२--१८.

॥ अर्जुन उवाच ॥

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ॥
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ १२ ॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ॥
असितो देवलो व्यासः स्वयंचैवब्रवीषिमे ॥ १३ ॥

हे कृष्ण ! आपहि परमब्रह्म रु परमधाम पवित्र हैं।
ऋषि सर्व कहते आपको देवर्षि नारद आसित हैं ॥
देवल तथा कह वेदव्यास महर्षि सारें यह कहैं।
तुमहों सनातन दिव्य पुरुष रु आदि देव तुमें कहैं ॥

तुम हो अजन्मा सर्वव्यापी सर्वसम्मत है यही ।
फिर तुम स्वयं भी यही कहते मुझे निश्चय है सही ॥१२-१३॥

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ॥
नहि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥१४॥

केशव ! मुझे तुम कहा जो कुछ उन्हे सब सच मानते ।
हे कृष्ण ! आविर्भाव तुमरा तत्त्व नहीं सब जानते ॥
हैं देव दानव और कोई भी न उसको देखते—॥ १४ ॥

स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ॥
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥

—हे परम पुरुष ! रु सर्वउत्तम ! भूतभावन ! जगपते ! ।
भूतेश ! देवनदेव ! भगवन् ! विश्वपालक ! गोपते!—॥ १५ ॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ॥
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमाँस्त्वंव्याप्यातिष्ठसि ॥१६॥

—तुम अपनसेही अपनको स्फुट स्वयंही प्रभु ! जानते ।
अतएव अपनी विभूतिनसे आप सबजग व्याप्त हो ॥
विस्तारसे उनको बताओ श्रेय जिनसे प्राप्त हो ॥ १६ ॥

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिंतयन् ॥
केषु केषु च भावेषु चिंत्योऽसि भगवन्मया ॥ १७ ॥
विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ॥
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्तिमेऽमृतम् ॥१८॥

हे कृष्ण ! योगेश्वर ! कहो मैं निरन्तर किस रूपसे ।
करताहुआ चिन्तन तुमें कस जानलूं उस रूपसे ॥

औ आप किन किन भावमें प्रभु ! चिन्त्य मुझसे हैं वही ।
विस्तारसे कह दो दयाकर जनार्दन ! मुझको सही ।
निज योगशक्ति विभूतिको फिर कर मुझे विस्तृत कहो ।
है क्योंकि अमृत सुवाक्य सुनकर, तृप्ति नहीं होती अहो १७-१८

" भगवान्‌की अनन्त विभूतियोंमेंसे मुख्य विभूतियोंका वर्णन " १९--४०.

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

हंत ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ॥
प्राधान्यतःकुरुश्रेष्ठ नास्त्यंतो विस्तरस्य मे॥ १९॥

कुरु श्रेष्ठ ! प्रिय ! अब तुम्हारे हित दिव्य निजी विभूतिएं ।
मैं कहूंगा संक्षेपसे विस्तार न अन्त विभूतिएं ॥ १९ ॥

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ॥
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामंत एवच्च ॥ २० ॥

हे पार्थ ! मैंही सर्व प्राणी—हृदयमें स्थित आत्महूं ।
सब भूतगणका आदि मध्य रु अन्त मैं सर्वात्म हूं ॥ २० ॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषांरविरंशुमान् ॥
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥

आदित्यगणमें विष्णु मैं हूं प्रकाशकगण सूर्य हूं ।
मैं मरुतगणमें हूं मरीचि रु नक्षत्रगणमें चन्द्र हूं ॥ २१ ॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ॥
इंद्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना॥२२॥

चतुर्वेदमें हूं सामवेद रु देवगणमें इन्द्र हूं ।
दश इन्द्रियोंमें मैं हि मन हूं प्राणियोंमें प्राण हूं ॥ २२ ॥

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ॥
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुःशिखरिणामहम्॥ २३ ॥

मैं रुद्रगणके विषे शङ्कर यक्षराक्षस धनद[1] हूं ।
वसुओंमें हूं अग्नि मैं ही पर्वतोंमें मेरु हूं ॥ २३ ॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ॥
सेनानीनामहं स्कंदः सरसामस्मि सागरः ॥ २४ ॥

पुरोहितोंमें मुख्य बृहस्पति पार्थ मुझको जानिये ।
सेनापतिनमें स्वामिकार्तिक जलाशय दधि[2] मानिये ॥ २४ ॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ॥
यज्ञानांजपयज्ञोऽस्मिस्थावराणांहिमालयः ॥ २५ ॥

मैं महर्षिनमें पार्थ ! भृगु हूं, पदाक्षर इक ओम हूं ।
सब यज्ञमें जप यज्ञ मैं हूं हिमालय स्थिरमध्य हूं ॥ २५ ॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ॥
गंधर्वाणां चित्ररथः सिद्धानांकपिलो मुनिः ॥ २६ ॥

सब वृक्षमें पीपल तरु मैं देवर्षियोंमें नारद हूं ।
गंधर्व गणमें चित्ररथ हूं सिद्धगण मुनि कपिल हूं ॥ २६ ॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ॥
ऐरावतं गजेंद्राणां नराणां च नराधिपम् ॥ २७ ॥

---

१ कुबेर । २ समुद्र ।

चतुर्वेदमें हूं सामवेद रु देवगणम इन्द्र हूं ।
दश इन्द्रियोंमें मैं हि मन हूं प्राणियोंमें प्राण हूं ॥ २२ ॥

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ॥
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुःशिखरिणामहम्॥ २३ ॥

मैं रुद्रगणके विषे शङ्कर यक्षराक्षस धनद[1] हूं ।
वसुओंमें हूं अग्नि मैं ही पर्वतोंमें मेरु हूं ॥ २३ ॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ॥
सेनानीनामहं स्कंदः सरसामस्मि सागरः ॥ २४ ॥

पुरोहितोंमें मुख्य बृहस्पति पार्थ मुझको जानिये ।
सेनापतिनमें स्वामिकार्तिक जलाशय दधि[2] मानिये ॥ २४ ॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ॥
यज्ञानांजपयज्ञोऽस्मिस्थावराणांहिमालयः ॥ २५ ॥

मैं महर्षिनमें पार्थ ! भृगु हूं, पदाक्षर इक ओम हूं ।
सब यज्ञमें जप यज्ञ मैं हूं हिमालय स्थिरमध्य हूं ॥ २५ ॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ॥
गंधर्वाणां चित्ररथः सिद्धानांकपिलो मुनिः ॥ २६ ॥

सब वृक्षमें पीपल तरु मैं देवर्षियोंमें नारद हूं ।
गंधर्व गणमें चित्ररथ हूं सिद्धगण मुनि कपिल हूं ॥ २६ ॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ॥
ऐरावतं गजेंद्राणां नराणां च नराधिपम् ॥ २७ ॥

---

१ कुबेर । २ समुद्र ।

सर्गाणामादिरंतश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ॥
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥
हे पार्थ ! मैं ही सृष्टियोंका आदि मध्य रु अन्त हूं ।
अध्यात्मविद्या कलाआमें वादियोंमें वाद हूं ॥ ३२ ॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वंद्वः सामासिकस्य च ॥
अहमेवाक्षयःकालो धाताऽहंविश्वतोमुखः ॥ ३३ ॥
मैं अक्षरोंमें हूं अकार रु समासोंमें द्वन्द्व हूं ।
हूं काल मैं ही नाशके बिन विराटहि धाता रहूं ॥ ३३ ॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ॥
कीर्तिःश्रीर्वाक्चनारीणांस्मृतिर्मेधाधृतिःक्षमा ४ ॥
हूं मृत्यु सब क्षय करनवाली जन्म आगे नर लहैं ।
उनका रहा मैं उत्पत्तिका स्थान जिसमें सब रह ॥
मैं स्त्रियोंमें हूं कीर्ति, श्री, स्मृति, वाक, मेधा, धृति, क्षमा—३४

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छंदसामहम् ॥
मासानांमार्गशीर्षोऽहमृतूनांकुसुमाकरः ॥ ३५ ॥
—हे पार्थ ! गायन योग्य वैदिक स्तोत्रमें हूं बृहत्समा ।
मैं मासमें हूं मार्गशोर्ष रु ऋतुनमें ऋतुराज हूं—॥ ३५ ॥

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥
जयोऽस्मिव्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥ ३६ ॥
हूं कपटियोंमें द्यूत मैं ही तेजास्वियोंमें तेज हूं ।
मैं जयीकी हूं विजय निश्चय—वानका निश्चय रहा—।
मैं सभी सात्त्विकमनुष्योंका सत्त्व सात्त्विक जग रहा ॥ ३६ ॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मिपांडवानां धनंजयः ॥
मुनीनामप्यहं व्यासःकवीनामुशनाकविः ॥ ३७ ॥

मैं यादवोंमें वासुदेव रु पाण्डवोंमें पार्थ हूं ।
हूं मुनीश्वरमें वेदव्यास रु कवीश्वरमें शुक्र हूं ॥ ३७ ॥

दंडोदमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ॥
मौनंचैवास्मिगुह्यानांज्ञानंज्ञानवतामहम् ॥ ३८ ॥

मैं दण्डकरतानरोंमें हूं दण्डशक्ति हि दमनकी ।
मैं जयेच्छारखनेजनोंकी नीति हूं जय करनकी ॥
गोपनीयोंमें मौन मैं हूं ज्ञानियोंका ज्ञान हूं—॥ ३८ ॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ॥
नतदस्तिविनायत्स्यान्मयाभूतंचराचरम् ॥ ३९ ॥

—मैं पार्थ ! प्राणी उत्पत्तिका एक हेतु महान हूं ।
हैं क्योंकि ये चर अचर सारे भूत मेरेसे हुए ।
है भूत कोईभी न ऐसा जो कि मेरे विन हुए ॥ ३९ ॥

नांतोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ॥
एषतूद्देशतःप्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥ ४० ॥

इन दिव्य मेरी विभूतिनका पार्थ ! अन्त न आइये ।
यह विभूतिनविस्तात मैंने कहा दिग्दर्शन लिये ॥ ४० ॥

" जो कुछ विभूतिमत, श्रीमत् और ऊर्जित है, वह सब परमेश्वरी तेज है; परन्तु अंशसे है " ४१-४२.

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ॥
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥ ४१ ॥

अतएव जो जो विभूति कान्ति रु शक्तिसम्पन्न व्यक्ति है ।
तू जान उस उस वस्तुकी मम तेज कणसे व्यक्ति है ॥ ४१ ॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ॥
विष्टभ्याहमिदंकृत्स्नमेकांशेनस्थितोजगत् ॥ ४२ ॥

ॐतत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासुपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

या पार्थ ! इस बहुजाननेसे, प्रयोजन है क्या तुझे ।
सब विश्वको इक अंशसे कर व्याप्त स्थितहूं लख मुझे॥४२॥

(१०)

इसतरह श्रीभगवान्के उपनिषद्में गायेहुए ।
इस योगशास्त्रप्रबोधविषयक, ब्रह्मविद्यामें हुए ॥
श्रीकृष्णअर्जुनवादमें यह पूर्णदशवां ध्याय है ।
सु " विभूतियोग " पढे सुने वह विराटहिं दर्शाय है ॥

ॐ तत्सदिति पुष्करणा वंशावतंस शाण्डिल्यगोत्र ज्योतिर्विद् पण्डित काल्ह-रामात्माजेन पुरोहित बदरीदासशर्मणा विरचितं हिन्दिपद्यमय श्रीमद्भग-वद्गीतार्थप्रबोधे "विभूतियोग" नामक दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

ॐ तत्सत्

" विश्वरूप दर्शन "



हे देव ! विश्वस्वरूप तेरे देहमें सब देवको ।
चर अचर नानारूप संघहि देखता सब जीवको ॥
हे विश्वस्वामिन् ! आपको इन हजारों कर उदरसे ।
मुख नयनसे मैं युक्त देखूं तुम्हेंही सब ओरसे ॥
हे महाबाहो ! अनेकों मुख नयनसे तुम युक्त हो ।
औ अनेकों भुज जंघ पाद रु उदरसे संयुक्त हो ॥
तुम वायु पावक वरुण यम शशि प्रजापति अज जनक हो ।
तुमको हजारोंबार सादर नमोनम मेरी अहो ॥

अथ ग्यारहवाँ अध्याय ।

" विश्वरूप दर्शनयोग "

अध्याय दशवेंमें स्वयं भगवान्ने वर्णन किया ।
अपनी विभूतिनको उसे सुन, शुद्ध अपनेको किया ॥
तब पार्थको उस विश्वरूपहिं देखनेकी रुचि हुई ।
स्तुति प्रार्थनाकी कृष्णसे वह सर्वस्वीकृत होगई ॥
और हरिने जिस विश्व तनुका कराया दर्शन उसे ।
अध्याय इसमें किया वर्णन उसीका उत्तम जिसे ॥
कह शास्त्र गीताभाग उत्तम सरस सुखप्रद मानिये ।
अनुकरण इसका किया सबने दिव्य अनुपम जानिये ॥

" पूर्व अध्यायमें बतलाये हुए अपने ईश्वरी रूपको दिखलानेके लिये श्रीभगवान्से प्रार्थना " १--४.

॥ अर्जुन उवाच ॥

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ॥
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥

हे कृष्ण ! मुझपर कृपाकर वच, परम गुह्य अध्यात्म है ।
तुम कहें उससे हुआ मेरा मोह क्षय सुखप्राप्त है ॥ १ ॥

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ॥
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥

हे कमल चख श्रीकृष्ण ! तुमसे, भूत उत्पत्ति प्रलयका ।
मैंने सुना विस्तारसे वृत माहात्म्य अव्यय अभयका ॥ २ ॥

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ॥
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

परमेश ! जैसा आपने हैं कहा अपने विषयमें ।
वह ठीक ऐसा युक्त बच है आपके ऐश्वर्यमें ॥
प्रभो ! पुरुषोत्तम ! तुम्हारे उस रूपका दर्शन चहों ।
यदि देख सकता उसे हूं यह समझते तुम तो कहो ॥ ३ ॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ॥
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

औ मुझे योगेश्वर ! दिखाओ रूप अव्यय तव वही ।
यों प्रार्थना सुन पार्थकी प्रभु रूप दिखलाया यही ॥ ४ ॥

"इस आश्चर्यकारक और दिव्यरूपको देखनेके लिये अर्जुनको दिव्यदृष्टि ज्ञान" ५–८.

श्रीभगवानुवाच ॥

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ॥
नानाविधानिदिव्यानिनानावर्णाकृतीनिच ॥५॥

हे पार्थ ! मेरे दिव्य विविध अनेक वर्णाकार हैं ।
मम सैकड़ों या हैं हजारों रूप देख अपार हैं ॥ ५ ॥

पश्यादित्यान्वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ॥
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥

आदित्यगण वसु रुद्र मरुत रु अश्विनीसुकुमार हैं।
ये तुम अनेकाश्चर्य देखो कभी न देखा लार हैं ॥ ६ ॥

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ॥
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥

हे पार्थ ! मेरे इसी तनमें चराचर सब जग लखो।
हैं यहाँ इकट्ठा और जो कुछ देखनेकी रुचि रखो ॥
यह देखलो तुम आज अर्जुन ! दिखाता हू मैं तुझे ॥ ७ ॥

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ॥
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥

यह रूप अपने इन नयनसे देख सकते नहि मुझे।
अतएव तुमको दिव्य दृष्टि प्रदानकी अब दीखिये।
मेरी अलौकिक योगशक्ति रु विश्वरूप सु निरखिये ॥ ८ ॥

" विश्वरूपका संजयकृत वर्णन " ९--१४.

॥ संजय उवाच ॥

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ॥
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

धृतराष्ट्र योगेश्वर हरिने वाक्य ऐसे बोलके।
फिर पार्थको अपना दिखाया रूप मह दिल खोलके ॥ ९ ॥

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ॥
अनेकदिव्याभरणंदिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥

उसके अनेकों नेत्र मुख थे दृश्य अद्भुद दीखते।
थे अनेकालंकार विविध सु दिव्यास्त्र जिनमें शोभते ॥ १० ॥

दिव्यमाल्यांबरधरं दिव्यगंधानुलेपनम् ॥
सर्वाश्चर्यमयं देवमनंतं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥

वह दिव्य माला वस्त्र धारण किये थे सुन्दर तथा।
थे दिव्यगंध सुलेप वपुमें पूर्णविस्मयकर यथा ॥
अस दीप्तिमान रु अन्तहीन हि विश्वतोमुखरूपको।
प्रभुने दिखाया पार्थको यह अनूपम जग रूपको ॥ ११ ॥

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ॥
यदिभाः सदृशीसास्याद्भासस्तस्यमहात्मनः ॥

आकाशमें यदि सहस्र रविकी प्रभा जो इकसाथमें।
हो प्रकाशित तो कदाचित उस विश्वमयके साथमें ॥
होसके विश्वस्वरूप दिव्य सु ज्योतिके सदृश कभी— ॥ १२ ॥

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ॥
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पांडवस्तदा ॥ १३ ॥

—असरूप में उस देवदेव—विराटको देखा तभी।
था अनेकों हि विभागमें वह विश्व बंटासा हुआ ॥
एकत्रस्थित देखा धनञ्जय मग्न विस्मयमें हुआ ॥ १३ ॥

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ॥
प्रणम्य शिरसा देवं कृतांजलिरभाषत ॥ १४ ॥

रोमांचसे तनु पुलक होकर नमोनम करते उन्हें।
करनेलगा करजोड अर्जुन ईशकी स्तुति झुक जिन्हे ॥ १४ ॥

"विस्मय और भयसे नम्र होकर अर्जुनकृत
विश्वरूपकी स्तुति और यह प्रार्थना
कि प्रसन्न होकर बतलाइये कि
आप कौन हैं ?" १५-३१.

॥ अर्जुन उवाच ॥

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ॥
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ १५ ॥

हे देव ! विश्वस्वरूप तेरे देहमें सब देवको ।
चर अचर नानारूपसंघहिं देखता सब जीवको ॥
स्थित कमल आसन ईश ब्रह्मा और सारे ऋषिनको ।
मैं देखता हूं दिव्यमय विश्वेश ! तन उरगानको ॥ १५ ॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनंतरूपम् ॥
नांतं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूपम् ॥ १६ ॥

हे विश्वस्वामिन् ! आपको यह हजारों कर उदरसे ।
मुख नयनसे मैं युक्त देखा तुम्हे हीं सब ओरसे ॥

पर आदि अन्त न मध्य तेरा मुझे दिखलाता नहीं ।
उत्पत्ति स्थिति औ नाशको मैं कहीं पर पाता नहीं ॥ १६ ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमंतम् ॥
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समंता--
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ १७ ॥

हे कृष्ण ! मुकुट रु गदा चक्रहि देहमें धारण किये ।
सब ओरसे हि प्रकाशमान सुतेज पुञ्ज दिखाइये ॥
हो प्रखर ज्योति हि इसीसे हम कठिनतासे देखते ।
तुम हो दमकते अग्निरविवत तेजयुक्त सुशोभते ॥ १७ ॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ॥
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ १८ ॥

हूं देखता सर्वत्र तुमको, अप्रमेय स्वरूपसे ।
इस विश्वके तुम परम आश्रय स्थान अव्यय रूपसे ॥
तुमही सनातन "धर्मरक्षक" सनातनपर पुरुष हो-॥ १८ ॥

अनादिमध्यांतमनंतवीर्य--
मनंतबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ॥
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपंतम् ॥ १९ ॥

—मम यही अनुभव नाथ ! तेरा आदि मध्य न अन्त हो।
हे अनन्त वीर्य भुजाधारी चन्द्र रवि तव नयन हैं।
प्रज्वलन्त पावकरूप मुखसे तपाते त्रय भुवन हैं॥
निज तेजद्वारा अखिल जगको चाकित करते तुम प्रभो।।
मैं देखता हूं तुम्हें ऐसा तेजसम्पन्न हे विभो ! ॥ १९ ॥

द्यावापृथिव्योरिदमंतरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ॥
दृष्ट्वाऽद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥ २० ॥

हे महात्मन् ! दिवि भूमि विचका, व्योम औ दिक आपसे।
परिपूर्ण हैं इक इस अलौकिक भयङ्कर तव रूपसे॥
ये लोकत्रय तवरूपको लख, व्यथाको अतिप्राप्त हैं।
हो रहे हैं यों भान मुझको जीव सब भय व्याप्त हैं॥ २०॥

अमी हि त्वां सुरसंघा विशंति
केचिद्भीताः प्रांजलयो गृणंतिं ॥
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवंति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥

हूं देखता ये देवगण तव शरणमें सब आ रहें।
कर जोड़ कोई भीत हो तव नाम गुण यश गा रहें॥
कह स्वस्ति सुखद महर्षि सारे सिद्ध उत्तम स्तोत्रसे।
सब आपकी स्तुति कररहे हैं भक्तिमय सदमन्त्रसे॥ २१॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ॥
गंधर्वयक्षासुरसिद्धसंघा
वीक्षंते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥ २२ ॥

आदित्य रुद्र रु साध्य वसुगण अश्विनीसुकुमार हैं।
विश्वेसुदेवा मरुतगण औ पितरगण सुखद्वार हैं ॥
गन्धर्व यक्ष रु दैत्य दानव सिद्धगण तुमको सभी।
आश्चर्य पूर्वक देखते हैं पार नहीं पाते कभी ॥ २२ ॥

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ॥
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाऽहम् ॥ २३ ॥

हे महाबाहो ! अनेकोंमुखनेत्रसे तुम युक्त हो।
औ अनेकोंभुज जंघ पाद रु उदरसे तुम युक्त हो ॥
प्रभु अनेकों दान्तों हि कारण भयंकर तव रूपको।
हैं देखकर सबलोग होते व्यथित तज निजरूपको ॥ २३ ॥

नभः स्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ॥
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितांतरात्मा
धृतिं न विंदामि शमं च विष्णो ॥ २४ ॥

भयभीत मैं भी होगया हूं नाथ ! तुमको देखके।
अतएव विष्णो ! गगनस्पर्शी दीप्त बहुविध रङ्गके ॥

फलेहुए प्रज्वलित महामुख नेत्रलखजाती रही ।
मेरी धृति रु भयभीत चित हूं शान्ति भी चलती रही ॥ २४॥

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसंनिभानि ॥
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ २५ ॥

विकराल भीषण दाढ कारण प्रलयपावक सम रहा ।
यों तुमारे मुखको भयङ्कर देख दिकशुन हो रहा ॥
प्रभु दिशायें मुझको न सूझति समाधान न इसलियें ।
देवेश ! जगन्निवास ! मुझपर तुष्ट अब होजाइये ॥ २५ ॥

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ॥
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥ २६ ॥

नृपगणोंके साथ ये सब धृतराष्ट्र सुत रणधीर हैं ।
भीष्मद्रोण रु कर्ण मेरे पक्षके भी वीर हैं ॥ २६ ॥

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशंति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ॥
केचिद्विलग्ना दशनांतरेषु
संदृश्यंते चूर्णितैरुत्तमांगैः ॥ २७ ॥

सब धड़ाधड़ तुमरे करालहि दन्तवाले बदनमें ।
सुप्रवेश करते सभी है इन भयानक तव मुखनमें ॥
वहाँ कई ऐसे देख पडते चूर चूर हि शिर हुए ।
हैं तुमारे दान्तों विषे ये लोग सब चिपटे हुए ॥ २७ ॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवंति ॥
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशंति वक्राण्यभिविज्वलंति ॥ २८ ॥

यथा नादियोंके अनेकों जलवेग सागर-ओर हो ।
है सिन्धुमेंहि प्रवेश करते तथा जग तव ओर हो ॥
नरलोकके ये वीरगण सब--ओरसे प्रज्वलित हुए ।
प्रभु ! तुम्हारे इन मुखोंमें है प्रवेशित सादर हुए ॥ २८॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशंति नाशाय समृद्धवेगाः ॥
तथैव नाशाय विशंति लोका--
स्तवापि वक्राणि समृद्धवेगाः ॥ २९ ॥

वे यथा जलती अग्निमें अति--वेगसे मरनेलिये ।
हैं पतङ्ग चट कूद पड़ते, तथा-विध जरनेलिये ॥
ये लोगभी अतिवेगसे तव मुखोंमें जाते रहैं--॥ २९ ॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता--
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ॥

तेजोभिरापूर्यजगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपंति विष्णो ॥ ३० ॥

—प्रज्वलित मुखसे उन्हें तुम सब ओरसे खाते रहैं ।
निज जीभसे तुम चाटते हो अहो विष्णो ! रोषसे ॥
तेरी प्रभाएं-उग्र हैं जग व्याप्त करती घोषसे ॥ ३० ॥

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोस्तु ते देववर प्रसीद ॥
विज्ञातुमिच्छामि भवंतमाद्यं
नहि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥ ३१ ॥

फिर चमकती रहती अतः मैं प्रश्न करता हूं तुझे ।
यह उग्ररूपी "कौन हो तुम" ? बताओ कृपया मुझे ॥
हे देवदेव ! हि तुमें करता नमोनम स्वीकारिये ।
चट कृपाकरके तुष्ट मुझपर नाथ ! अब हो जाइये ? ॥ ,
हे आदि पुरुषोत्तम तुम्हें हूं, जानना चाहता प्रभो ! ।
क्योंकि यह चेष्टाएँ तुमारी समझ सकता नहीं विभो !॥३१॥

" पहले यह बतलाकर कि, 'मैं काल हूं' फिर अर्जुनको उत्साहजनक ऐसा उपदेश कि पूर्व-सेही इस कालके द्वारा ग्रसेहुए वीरोंको तुम निमित्त बनकर मारो " ३२-३४.

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ॥
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यंति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥ ३२ ॥

सब लोक नाशक काल मैं हूँ लोक क्षय करनेलिये ।
प्रस्तुत हुआ हूँ यहां तेरे कुछ न करनेपर हुये ॥
स्थित विपाक्षियोंके वीरगणमें बचेंगे कोई नहीं ॥ ३२ ॥

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून्भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम् ॥
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ ३३ ॥

—अतएव अर्जुन उठो रणाहित निमित्त बनना है सही ।
तुम विजययशको प्राप्त करलो शत्रुजय करलीजिये ॥
औ राज्य निष्कण्टक पिताका भोगके सुख पाइये ।
हे पार्थ ! मैंने इन्हें पहले माररक्खा है जिन्हें ॥
प्रिय सव्यसाचिन ! निमित्त केवल बनो तुम जीतो इन्हें॥३३

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथाऽन्यानपि योधवीरान् ॥
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युद्ध्यस्व जेताऽसि रणे सपत्नान् ॥ ३४ ॥

द्रोण भीष्म रु कर्ण जयद्रथ अन्यान्य योद्धागण सभी ।
मैं मारक्खें उन्हें पहले निमित्त बन मारो अभी ॥
हे पार्थ ! घबड़ाओ नहीं औ मोहको तज दीजिये ।
फिर "युद्धकर" सब शत्रुओंको विजयकर सुख लीजिये ॥३४

" अर्जुनकृतस्तुति, क्षमा प्रार्थना और पहलेका सौम्यरूपदिखलानेके लिये विनय " ३५--४६.

॥ संजय उवाच ॥

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृतांजलिर्वेपमानः किरीटी ॥
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥ ३५ ॥

धृतराष्ट्र ! हरिकी बात सुनकर कांपता अर्जुन उठा ।
करबद्ध हो श्रीकृष्णको बहु नमोनम करके दटा ॥
अत्यन्तही हो भीतचित्त रु चरण छू नमता हुआ ।
गद्गदसुरोंसे कृष्णकी फिर पार्थ स्तुति करताहुआ ॥ ३५ ॥

॥ अर्जुन उवाच ॥

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ॥

रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवंति
सर्वे नमस्यंति च सिद्धसंघाः ॥ ३६ ॥

हृषिकेश ! तेरी कीर्तिसे जग–जीव सारे तुष्ट हैं।
अनुरक्तभी होते तुमारे रूपमें, नहीं रुष्ट हैं ॥
भयभीत होकर असुर सब हैं दिशाओंमें भागते।
सब सिद्ध मुनिगण नमन करते उचित है तव शोभते ॥३६॥

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोप्यादिकर्त्रे ॥
अनंत देवेश जगन्निवास
स्त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ ३७ ॥

हे महात्मन् ! अजसे भी तुम हो बड़े ब्रह्मा जनकको।
सब लोग कैसे करेंगे नहीं नमोनम तव चरनको ॥
देवेश ! हे जगनिवास ! अनन्त ! हे मेरे प्रभो ! ।
सत असतसे जो परे हैं वह ब्रह्म अक्षर तुम विभो ! ॥ ३७ ॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण--
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्॥
वेत्ताऽसि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनंतरूप ॥ ३८ ॥

हैं आप आदि देवसनातन-पुरुष इस संसारके।
औ परम आश्रयस्थान तुम हो विज्ञ इस संसारके ॥
हो जाननेके योग्य परम स्व धाम तुम ही जगद्गुरो ! ।
सब विश्वको तुमने रखा है व्यापकरके भय हरो ॥ ३८ ॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ॥
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमोनमस्ते ॥ ३९ ॥

तुम वायु पावक वरुण यम शशि प्रजापति अज जनक हो ।
तुमको हजारोंवार सादर नमोनम मेरी अहो ॥
फिरभी नमोनम हैं हमारी वारवार नमो नमो—॥ ३९ ॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ॥
अनंतवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ४० ॥

—हे सर्व ! तुमको सामनेसे पीठसे हैं मम नमो ।
सब ओरसेही नमोनम तव क्योंकि तुम सब विश्वको ॥
प्रभु किये हो परिपूर्ण इससे सर्वमय रख विश्वको ।
या हे असीम विक्रम परात्मन् ! आपने निजवीर्यसे ॥
कर व्याप्त रक्खा जगतको सर्वात्महो इस कार्यसे ॥ ४० ॥

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ॥
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥ ४१ ॥

मैंने तुमारे विश्वरूप रु महात्म्यके अज्ञानसे ।
स्वप्रमादसे या प्रेमवश तुझ-सखाके अभिमानसे ।।
हे कृष्ण ! यादव ! सखे ! आदिक दिया सम्बोधन तुम्हें ।
जो तुच्छपनके साथ ऐसा कहा हो हठसे तुम्हें ।। ४१ ।।

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ॥
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥

भगवन् ! अहार विहार सोने बैठने एकान्तमें ।
या अन्य मित्रोंके समक्ष हि हास्य औ मन भ्रान्तमें।।
मैंने तुम्हारा जो निरादर किया हो उसके लिये ।
अप्रमेय ! तुमसे क्षमा सादर कराता हूं इसलिये ।। ४२ ।।

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ॥
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभावः ॥ ४३ ॥

हो अतुलप्रभाव प्रभो ! तुम इस चराचर जगके पिता ।
गुरु पूजनीय रु तुम्हीं गुरुके बडे गुरु सब जनयिता ।।
त्रयलोकमेंभी आपके सम अन्य कोई है नहीं ।
तो अधिक कैसे हो सकेगा दूसरा कोई कहीं ।। ४३ ।।

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ॥

पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥ ४४ ॥

हे देव इससे देहको तव चरणमें सादर धरूँ ।
साष्टांग प्रणाम सहित स्तुतिके योग्य ईश्वरकी करूँ ॥
सु प्रसन्न होनेके लिये है प्रार्थना सादर तुम्हें ।
कर क्षमा जैसे पिता सुत-अपराधको वैसे तुम्हें ॥
अपराध मेरे चाहिये सब क्षमा करना मम प्रभो ! ।
या सखा जैसे सखाका अपराध सहता है विभो ! ॥
पति देव जैसे क्षमाकर दे प्रियाके अपराधको ॥ ४४ ॥

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ॥
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ ४५ ॥

हे विश्वमूर्ते ! इस तुम्हारे नहीं देखे रूपको ।
हैं देखकर मुझको हुआ अतिहर्ष अद्भुत रूपको ॥
हे श्रीकृष्ण ! भयसे होगया मम चित्त व्याकुल जानिये ।
अतएव अपना वही सुन्दर रूप अब दिखलाइये ।
देवेश ! जगन्निवास ! मुझपर तुष्ट होजाओ प्रभो !—

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ॥

तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥ ४६ ॥

—औ पूर्ववत कीरीट युक्त रु गदाधारी बन विभो ॥
शुभचक्र करमें लिये मैं यों देखना चाहता तुझे ।
हे सहस्रबाहो ! विश्वमूर्ते ! उन चतुर्भुजसे मुझे ॥
दो दर्श भगवन् ! शङ्खचक्र रु गदा पद्म लिये हुए ।
प्रभु ! प्रकट होजाओ इसे हर दयाको करते हुए ॥४५॥४६॥

"विना अनन्यभक्तिके विश्वरूपका दर्शन मिलना दुर्लभ है; फिर पूर्व रूपधारण" ४७--५१.

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ॥
तेजोमयं विश्वमनंतमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥ ४७ ॥

हे पार्थ ! मैंने तुष्ट होकर योगमायासे तुम्हें ।
यह तेज पूर्णस्वरूप आदिसु अन्त दिखलाया तुम्हें ॥
जिसको तुम्हारे सिवा पाहिले किसीने देखा नहीं—॥ ४७ ॥

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै—
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ॥

एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥ ४८ ॥

कुरुवीर ! दीख न वेदसे यह, यज्ञ पाठनसे नहीं ।
बहुदानसे नहीं क्रियाओंसे, उग्रतपसे भी नहीं ॥
मुझ विश्वरूपहिं सिवा तुमरे लोकमें देखा नहीं ॥ ४८ ॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ॥
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४९ ॥

तव मूर्ति मेरी देख भीषण व्यथा मूढ न भाव हो ।
मम वासुदेव स्वरूप देखो अभय तुष्ट स्वभाव हो ॥
हे पार्थ ! देखो फिर वही मम चतुर्भुज इस रूपको ।
यों कृष्णने कहके दिखाया सौम्य अनुपम रूपको ॥ ४९ ॥

॥ संजय उवाच ॥

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ॥
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ५० ॥

धृतराष्ट्र ! यों भगवानने कह पार्थको दिखलादिया ।
अपना चतुर्भुज रूप सुन्दर परम करुणामय लिया ॥
भगवानने फिर सौम्य होकर दर्श अर्जुनको दिया ।
था भीत व्याकुल उसे कृपया दान आश्वासन किया ॥ ५० ॥

॥ अर्जुन उवाच ॥

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ॥
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिंगतः ॥ ५१॥

हे जनार्दन ! इस सौम्यमानुषरूपसे देखा तुझे ।
मैं होगया प्रकृतिस्थ निरखों तुष्टमनसे अब तुझे ॥ ५१ ॥

"विनाभक्तिके विश्वरूपका दर्शन देवताओंको भी नहीं होसकता" ५२-५४.

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ॥
देवाअप्यस्यरूपस्य नित्यंदर्शनकांक्षिणः ॥ ५२ ॥

अतिकठिनतासे दृष्टिगोचर योग्य होनेके यही ।
मम रूप देखा जिसे सुर भी देख सकते है नहीं ॥
जो देखना चाहते सदा इस रूपको मेरी कृपा ॥ ५२ ॥

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ॥
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ ५३॥

पर मुझे तुमने यथा देखा तथा कोई बिन कृपा ।
न देखसकते वेद दान रु तपस्यामखसे कभी ॥ ५३ ॥

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ॥
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥ ५४ ॥

—हे परन्तप ! देखे अनन्याहि भक्तिसे बुधगण सभी ॥
इस विश्वरूपाहि तत्त्वसे मम भक्तगण है जानते ।
फिर देख इसके साथमें तद्रूपताको पावते ॥ ५४ ॥

" अतः भक्तिसे निःसङ्ग और निर्वैर होकर परमेश्वरार्पण बुद्धिके द्वारा कर्म करनेके विषयमें अर्जुनको सर्वार्थसारभूत अन्तिम उपदेश " ५५.

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः ॥
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पांडव ॥ ५५ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनं नाम एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

मेरेलिये ही कर्मकरता मैंहि हूं जिसके लिये ।
प्राप्तव्य उत्तम वस्तु भवमें, मत्परायणता लिये ॥
हो भक्त मेरा सङ्गके बिन मुझे सब स्थल देखते ॥
हैं किसीके प्रतिशत्रुभाव न वही मुझको पावते ॥ ५५ ॥

(११)

इसतरह श्रीभगवान्के उपनिषद्में गायेहुए ।
इस योगशास्त्र प्रबोध विषयक ब्रह्मविद्यामें हुए ॥
श्रीकृष्ण अर्जुनवादमें यह पूर्ण एकादश हुआ ।
अध्याय " विश्वस्वरूपदर्शनयोग " पढ कृतकृत्य हुआ ॥

ॐ तत्सदिति पुष्करणा वंशावतंस शाण्डिल्यगोत्र ज्योतिर्विदू पण्डित काल्लूरामात्मजेन पुरोहित बदरीदासशर्मणा विरचितं हिन्दीपद्यमयं श्रीमद्भगवद्गीतार्थप्रबोधे "विश्वरूपदर्शनयोग" नाम एकादशोऽध्यायः ॥११॥

ॐ तत्सत् ।

अथ बारहवाँ अध्याय ।

" भक्तियोग "

जिस कर्मयोगकि सिद्धिके हित सातवें अध्यायमें ।
आरंभ ज्ञान विज्ञानका है निरूपण स्वाध्यायमें ॥
आठवें अक्षर ब्रह्म योगजु पुरुष अव्ययरूपको ।
बतलादिया है—औ नवेंमें, स्पष्टभक्ति स्वरूपको ॥
जो राजपथका निरूपण आरंभ कर दशवें तथा ।
अध्याय ग्यारहमें बताया, विभूतिरहस्यहि तथा ॥
दे विश्वरूप अनूप दर्शन उभय योगोंका किया ।
फिर ग्यारवें अध्यायमें है अन्तमें वर्णन किया ॥
" भक्तिसे या निःसङ्गमतिसे कर्म सब करते रहैं " ।
उपदेश ऐसा सार रूपहि पार्थको देते रहैं ॥
है पार्थका यह प्रश्न उसपर योग सिद्धि के लिये ।
जिस सातवें औ आठवेंमें क्षराक्षर सिद्धि सु लिये ॥
परमात्मके अव्यक्त रूपहिं श्रेष्ठ स्फुटकरके कहा ।
सदुपासना अव्यक्तकी या उसी अक्षरकी महा ॥
उपदेश फिर यह किया है कि युक्तचित्तकर युद्धको ।
यों नवें व्यक्तोपासनाके रूप अनुभव शुद्धको ॥
हरि बता बोले ईश्वरार्पण बुद्धिकरना श्रेष्ठ है ।
सब कर्मको ही नित्य तो अब कौन इनमें श्रेष्ठ है ? ॥
इस प्रश्नमें है अर्थभक्ति जु व्यक्तकी सदुपासना ।
पर भक्तिसे यहाँ भिन्न भिन्नहि है अनेकोपासना ॥
है उपास्योंका न तु विविक्षित अर्थ इसको जानिये ।
अथवा उपास्यप्रतीक कोई रहा उन सबके लिये ॥

प्रभु सर्वव्यापी एकहीकी भावना रखकर मुदा ।
जो भक्ति की जाती वही है, व्यक्तकी पूजा सदा ॥
अतएव इस अध्यायमें कह वही व्यक्तोपासना ।
सुन सगुण निर्गुण भेदसे अब शुद्धमन कर भावना ॥

पिछले अध्यायके अन्तिमसारभूत उपदेशपरअर्जुनका प्रश्न कि—व्यक्तोपासना श्रेष्ठ है या अव्यक्तोपासना ? " 1.

॥ अर्जुन उवाच ॥

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ॥
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

इस तरहसे हो सदा युक्त रु भक्तगण जपते रहें ।
साकार तुम्हरे—रूपकी जो उपासना करते रहें ॥
हैं और जो तव भक्त गो मन, धी अगोचरकी करें ।
सदुपासनाऽक्षरपुरुष निर्गुण ब्रह्मकी हियमें धरें ॥
है कौन इनमें योगवेत्ता श्रेष्ठ सो बूझो तुझे ? ।
स्फुट सगुण निर्गुण ब्रह्मकी प्रभु ! भक्तिको कहदो मुझे ॥ १ ॥

" दोनोंमें गति एक ही है; परन्तु अव्यक्तोपासना क्लेशकारक है, और व्यक्तोपासना सुलभ एवं शीघ्र फलप्रद है । अतः समबुद्धि-

मय कर्मयोगपूर्वक व्यक्तोपासनाकरनेके विषयमें उपदेश ''२-८.

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ॥
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥

हे पार्थ ! मुझमें मनलगाकर योगयुक्त रहै सदा ।
उस परम श्रद्धासाथ मेरे सगुण रूपहिकी मुदा ॥
जो उपासना करते जगतसे मुक्त होनेको यहीं ।
मैं समझता हूं श्रेष्ठ योगी उन्हींको निश्चय सही ॥ २ ॥

येत्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ॥
सर्वत्रगमचिंत्यं च कूटस्थमचलंध्रुवम् ॥ ३ ॥

प्रथम अधिकारीको बता अब, दूसरेको यों कहैं ।
यह पुरुष गोगण रोक सम्यक बुद्धिमनसे पर रहै ॥
जो अकथनीय स्वरूप मेरा, सर्वव्यापी है जिन्हें ।
कूटस्थ ध्रुव अव्यक्त अक्षर अचल जान रु जप उन्हें ॥ ३ ॥

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ॥
ते प्राप्नुवंति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥

वे जीव सब कल्याणमें रतहुए सबमें राखते ।
हैं तुल्य-भाव स्वभाव योगी मुझेही जग पावते ॥ ४ ॥

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ॥
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥

आकार बिन निर्गुण परायण, ब्रह्मभक्तोंके लिये ।
मम सगुण भक्तोंकी अपेक्षा क्लेश हो बहुइसलिये ॥
हैं क्योंकि नर देहाभिमानी उक्त निर्गुण ब्रह्मको ।
हैं लाभ करते दुःखसे निर्गुण उपासक ब्रह्मको ॥ ५ ॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ॥
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायंत उपासते ॥ ६ ॥

पर जो उपासक कर्मको हैं समर्पण मुझमें करें ।
औ सदा होकर मत्परायण एक भक्ति हि मन धरें ॥
मम ध्यानमें रत नित्य होकर भजन करते हैं उन्हें—॥ ६ ॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ॥
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥

हे पार्थ ! मृत्यु नियुक्त भवदधि पारकरता हूं इन्हें ।
आविष्टचित मुझमें रहै वह, शीघ्र तर संसारको ॥ ७ ॥

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ॥
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

अतएव मुझमें करो स्थिरमन बुद्धिके सुविचारको ।
तुम लगादो मुझमें निरन्तर क्योंकि ऐसा करनसे ॥
तनु पातके भी अनन्तर तुम सुखद मेरी शरनसे ।
मद्-रूपताको प्राप्तहोकर करोगे मुझमें सदा ।
सु निवास इसमें नहीं कुछ भी रहा संशय है कदा ॥ ८ ॥

" भगवानमें चित्तको स्थिरकरनेका अभ्यास, ज्ञान, ध्यान इत्यादि उपाय और इनमें कर्मफल-त्यागकी श्रेष्ठता " ९-१२.

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ॥
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ ९॥

हे धनञ्जय ! यदि ठीक ठीक न चित्त मुझमें रोकते।
तो बार बारहि करो मुझमें, चित्त स्थिर विधि खोजते ॥
अभ्यासयोगहि किये मुझसे मिलनकी इच्छा करो-॥ ९ ॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ॥
मदर्थमपिकर्माणिकुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥

अभ्यासमें न समर्थ होतो हमारे हित तुम धरो।
सब कर्म मेरी प्रीतिके हित पार्थ ! नित करते रहो ॥
मुझ अर्थ करने कर्मसे भी मोक्ष पाओगे अहो ॥ १० ॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ॥
सर्वकर्मफलत्यागंततःकुरुयतात्मवान् ॥ ११ ॥

हे पार्थ ! मुझमें युक्त होकर समर्थ न यह करनमें।
तो चित्तसंयत हो तजो सब कर्मफल मम चरनमें ॥ ११ ॥

श्रेयोहिज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानंविशिष्यते ॥
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छांतिरनंतरम् १२॥

अभ्यासते हैं ज्ञान उत्तम ज्ञानसे फिर ध्यान है।
औ ध्यानसे भी कर्म फलका त्यागना बलवान है ॥

मिल कर्मफलके त्यागनेसे शान्ति परमानन्द है ।
क्रमशः बताया सहज साध्योपाय यह निर्द्वंद्व है ॥
अब भक्तसहज आत्मीयताको प्रकट करते आप हैं ।
जिसके सु जाने जरे सारे प्राणियोंके पाप है ॥ १२ ॥

" भक्तिमान् पुरुषकी स्थितिका वर्णन और भगवत्प्रियता " १३-१९.

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ॥
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखःक्षमी ॥ १३ ॥

जो किसीके प्रति नहीं करता द्वेष सबसे मित्रता ।
है दयाका वर्ताव करता हृदय लेश न शत्रुता ॥
हैं ममत्वादिके भावसे जो रहित विन अहंकारसे
सुख दुःखमें समभाव रहता क्षमाशील विचारसे ॥ १३ ॥

संतुष्टःसततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ॥
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मे भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

है सदा सन्तोषी समाहित-चित्त संयमी दृढव्रती ।
मनबुद्धिको मुझमें लगाता भक्त वह मम प्रिय अती ॥ १४ ॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ॥
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥

जिससे न कुछभी पहुँचता हैं क्लेश लोगोंको कभी ।
मिलता न जिसको हैं कहींभी क्लेश लोगोंसे कभी ॥

प्रिय वस्तुसे नहीं हर्ष पाता अमर्ष अप्रियमें नहीं।
औ मुक्त भय उद्वेगसे है भक्त मुझको प्रिय वही ॥ १५ ॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ॥
सर्वारंभपरित्यागीयोमद्भक्तःसमेप्रियः ॥ १६ ॥

जग किसी वस्तु विषे नहीं जो स्पृहा रखता भक्त है।
औ शुद्ध भीतर बाह्यसे शुचिता लिये नित युक्त है ॥
आ सामने कर्तव्य उसको चतुर जड़ता तज करें।
औ किसी विषयक पक्षपात न भूलकर मनमें धरें ॥
है दुःखके कारण उपस्थित तदपि दुःख न मानता।
प्रारंभ किसी व्यापारको नहीं स्वयं रुचिकर जानता ॥
पर सहज आये सामने कर्तव्यको हरता नहीं।
है दक्षताके साथ करता भक्त मुझको प्रिय वही ॥ १६ ॥

यो नहृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ॥
शुभाशुभपरित्यागीभक्तिमान्यःसमेप्रियः ॥ १७ ॥

प्रिय मध्य हर्ष न प्रकट करता द्वेष प्रिय बिनमें नहीं।
प्रिय वस्तुके न वियोगमें फिर शोक करता है वही ॥
बिन प्राप्त प्यारी वस्तुकी नहीं करें आकांक्षा कभी।
शुभ अशुभ त्यागी द्वंद्व बिन मम-भक्ति मानहि प्रिय सभी१७

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ॥
शीतोष्णसुखदुःखेषु समःसंगविवर्जितः ॥ १८ ॥

रिपु मित्र मानापमानहिमें सदा जो समभाव है।
सुख दुःख गर्मी शीत आदिक द्वंद्वमें सम भाव है ॥ १८ ॥

तुल्यनिंदास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येनकेनचित् ॥
अनिकेतःस्थिरमतिर्भक्तिमान्मेप्रियोनरः ॥ १९ ॥

निःसंग, निन्दा और स्तुतिमें एक रस मित घोष हैं ।
हो अनायास हि प्राप्त उसमें अहर्निश सन्तोष है ॥
निर्दिष्ट आश्रयमें न ममता व्यवस्थित चित है सही ।
प्रिय महात्मा ऐसे मुझे है भक्तिमान सदा वही ॥ १९ ॥
" आत्मीयताको बताकरके परमप्रियताको कहे ।
निज भक्तजनके साथ संबंध बताते हरियों रहे ॥ "

" इस धर्मका आचरण करनेवाले श्रद्धालु भक्त भगवान्‌को अत्यन्त प्रिय है "२०.

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ॥
श्रद्दधानामत्परमाभक्तास्तेऽतीवमेप्रियाः ॥ २० ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

जो भक्त श्रद्धायुक्त होकर मत्परायण हैं खरें ।
इस तरहसेऽमृत तुल्य उक्त सु धर्मका पालन करें ॥
वे भक्त मुझको पार्थ ! हैं अत्यन्त प्रिय संसारमें ।
अतएव " बदरी " कृष्ण आज्ञा मान चल संसारमें ॥

(१२)

इसतरह श्रीभगवान्‌के उपनिषदमें गायेहुए ।
इस योगशास्त्र—प्रबोधाविषयक ब्रह्मविद्यामें हुए ॥

श्रीकृष्णअर्जुन वादमें यह पूर्ण बारहध्याय है ।
प्रिय " भक्तियोग " पढ़े सुने वे भक्तबन सुखपायहै ॥

ॐ तत्सदिति पुष्करणा वंशावतंस शाण्डिल्यगोत्र ज्योतिर्विद् पण्डित काल्-रामात्मजेन पुरोहित बदरीदासशर्मणा विरचितं हिन्दीपद्यमयं श्रीमद्भग-वद्गीतार्थप्रबोधे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

ॐतत्सत् ।

अथ तेरहवाँ अध्याय ।

" क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग "

यह बात पिछलेऽध्यायमें है सिद्धकी मतिसे खरे ।
अव्यक्त रु अनिर्देश्य प्रभुके रूपका चिन्तन करे ॥
है उसे मिलता अन्तमें सुख मोक्ष अजरामर हुए ।
उसकी अपेक्षा पुरुष श्रद्धा युक्त हो प्रभुके लिये ॥
प्रत्यक्षकी औ व्यक्तरूपहिं भक्ति कर परमात्मके ।
सब कर्म करते हैं समर्पण उसीसे जीवात्मके ॥
हैं कर्मबंधन छूट मिलता, मोक्ष सुलभ सुरीतिसे ।
यों " कर्मयोग " रहस्यका हरि किया वर्णन प्रीतिसे ॥
है किन्तु इतनेसे न होता निरूपण पूरा वहीं ।
जो सातवें अध्यायमें था किया ज्ञान विज्ञान ही ॥

आरम्भ, इससे ईशका हो पूर्ण ज्ञान लिये सुनो ।
अब बाहरी इस सृष्टिके क्षर और अक्षरको गिनो ॥
मानव शरीर रु आतम अथवा क्षेत्र औ क्षेत्रज्ञका ।
सुविचार करना स्पष्ट पड़ता मोह लय हो अज्ञका ॥
सामान्यरीतिनसे पुरुष यदि जानले ऐसे यदा ।
सब व्यक्त वस्तुहि प्रकृतिसे हो रहीं उत्पन्न हैं सदा ॥
तो भी विना यह बतानेके ज्ञान औ विज्ञानका ।
निरूपण होता नहीं कि प्रकृति हेतुसे गुण कौनका– ॥
विस्तार है यह और उसका कौनसा क्रम है यही ।
अतएव तेरहऽध्यायमें है क्षेत्र क्षेत्रज्ञहि सही ॥
सुविचार पहले और आगे चार अध्यायों विषे ।
गुणतीनका सु विभाग कहकर अठारहवेंमें इसे ॥
है किया उपसंहारसारे विषयका पूरा वहां ।
सारांश, तीजी षड़ाध्यायी स्वतन्त्र न मानी यहां ॥
जिस कर्मयोग कि सिद्धिके हित, ज्ञान औ विज्ञानके ।
निरूपणका सातवेंमें आरंभ किय व्याख्यानके ॥
उस विषयकी ही कीगई हैं पूर्ति इस षड़ध्यायिमें ।
यों "कर्म योग" निमित्त गीता पूर्णत्रयषड़ध्यायिमें ॥

"क्षेत्र और क्षेत्रज्ञकी व्याख्या । इनका ज्ञान ही परमेश्वरका ज्ञान है" १–२.

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

इदं शरीरं कौंतेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ॥
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥

कौंतेय ! इसी शरीरको हैं क्षेत्र शास्त्रोंने कहा ।
जानता है इसे उसको " क्षेत्रज्ञ " तद्विदने कहा ॥ १ ॥

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ॥
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यतज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥

पार्थ ! सारे शरीरोंमें क्षेत्रज्ञ मुझको जानिये ।
क्षेत्र औ क्षेत्रज्ञ ज्ञानका ज्ञान-मेरा मानिये ॥ २ ॥

" यह क्षेत्रज्ञ विचार उपनिषदोंका और ब्रह्मसूत्रोंका है " २-३.

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्चयत् ॥
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥

वह क्षेत्रतन्मय रहा जैसा दृश्य या जड़रूप है ।
औ युक्त इच्छा आदि जैसे धर्मसे प्रियरूप है ॥
जिस तरह इन्द्रियविकारोंसे युक्त है जैसा हुआ ।
उत्पन्न प्रकृति रु पुरुषके संयोगसे जड चित हुआ ॥
है युक्त स्थावर जंगमादिक भेदसे समझो इसे ।
जो चिदानँद स्वभाव बत, क्षेत्रज्ञ है अर्जुन ! उसे ।
मुझसे सुनो संक्षेपसे सब विभूति इसकी रही-॥ ४ ३

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छंदोभिर्विविधैःपृथक् ॥
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

–औ बहुत कुछ इस विषयमें हैं, कहा ऋषियोंने वही ।
बहुरूपसे कहा गया पृथक हि वेदमन्त्रोंसे यही ॥
निश्चय दिलाते युक्तियुक्त सु ब्रह्म प्रतिपादक सही ।
उपनिषद्वाक्योंसे विषय यह, बहुत कुछ चर्चागया ॥
दे सूचना यों क्षेत्रकी फिर कृष्णने लक्षण किया ॥ ४ ॥

" क्षेत्रस्वरूपलक्षण " ५–६.

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ॥
इंद्रियाणि दशैकं च पंच चेंद्रियगोचराः ॥ ५ ॥
इच्छाद्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ॥
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

भू आदि पाञ्चों महाभूतहि अहंकार ममत्व है ।
है मूल प्रकृति रु इन्द्रियें दश ग्यारवाँ मन-सत्त्व है ॥
औ पञ्चतन्मात्रा रु इच्छा द्वेष सुखदुख धर्म है ।
फिर प्राणशक्ति शरीर इसमें बुद्धि गुणमय धैर्य है ॥ ५ ॥
इकतीस तत्त्वसमूहको है क्षेत्र कहते बुध सभी ।
अब ज्ञेयमय क्षेत्रज्ञके सुन ज्ञानसाधनको सभी ॥ ६ ॥

" ज्ञानका स्वरूपलक्षण तद्विरुद्ध अज्ञान " ७–११.

अमानित्वमदंभित्वमहिंसा क्षांतिरार्जवम् ॥
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥

निज आत्मश्लाघा नहीं करना दंभ बिन रहना मुदा।
सरलता शुचिता क्षमाऽहिंसा धैर्य गुरुसेवा सदा ॥ ७ ॥

इंद्रियाऽर्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ॥
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥

कर आत्म संयम इन्द्रियोंके विषयमें वैराग्य हो।
फिर अहंकार विशून्यता लख जन्म मरण जरा अहो ॥
नित व्याधि आदिक दुखोंमें स्फुट देखना दोषहि सही—॥ ८॥

असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु ॥
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

—प्रिय पुत्र स्त्री घर आदिमें आसक्तिको रखना नहीं।
और फिर उनमें अधिकतर अभिमानको नहिं स्थानहो।
मन इष्ट और अनिष्ट स्थितिमें एकरस विद्वानहो ॥ ९ ॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ॥
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥

होवे अनन्य स्वभावसे नित अटल भक्तिहि मुझ विषे।
एकान्त देशनिवास-अरुचि जनोंके जमघट[1] विषे ॥ १० ॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ॥
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ११ ॥

---

१ प्राकृतपुरुषोंके जमाव—इत्यादिमें.

नित वस्तु आत्मप्रबोधको लख परम निष्ठा उस विषे।
निज मोक्ष वियक तत्त्वज्ञानहि चित्तमें रखकर उसे॥
कर नियमसे आलोचना नित तत्त्वज्ञान विज्ञान हैं।
यह कहाजाता "ज्ञान" इससे भिन्न वह अज्ञान है॥११॥

"ज्ञेयके स्वरूपका लक्षण" १२-१७.

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते॥
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥ १२॥

यों बताकर उपरोक्त ज्ञान रु ज्ञेय वस्तु कहैं जिसे।
जाननेसे मोक्ष मिलता कहूंगा सम्यक उसे॥
वह ज्ञेय वस्तु अनादि निर्गुण ब्रह्म है परसे परे।
है निर्विशेष इसीसे वह कभी विधिमुखसे अरे॥
"न प्रमाणयोग्य" निषेध मुखसे, अकथनीय रहा नहीं।
अतएव वह नहीं कहाजाता सत्य और असत्य ही॥ १२॥

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्॥
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥ १३॥

किन्तु जिसके सब ओर हाथ रु पैर शिर मुख नेत्र हैं।
औ पार्थ! जिसके सर्व उरसे परम सुन्दर श्रोत्र हैं॥
इस लोकमें सबको रहा हैं व्याप वह गोतीत हैं॥ १३॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्॥
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥ १४॥

फिर सर्व गोगणके गुणोंसे तदाकार प्रतीत हैं।
वो भी सकल गोसे रहित हैं निराकार सदा वही॥

जगमध्य सबसे अलग होकर सर्वका पालक यही ।
यों गुणातीत रु हैं गुणोंका एक भोक्ता वह सही ॥ १४ ॥

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ॥
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चांतिकेच तत ॥ १५॥

इन सर्वभूतों विषे अन्दर गूढ है बाहर वही ॥
वह अचरमय है और चर भी सूक्ष्मसे अविज्ञेय है ॥
अज्ञानियोंके लिये अर्जुन ! दूर अति निज ज्ञेय है ।
पर तत्त्व दर्शीके लिये वह बहुत ही निजपास है–॥ १५ ॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ॥
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णुप्रभविष्णुच ॥ १६ ॥

–जो भूतसबमें रहा इससे खण्ड बिन इकभास है ।
फिर भी प्रति तनमें दिखाता, भिन्न होकरके वही ।
सब जीवका पालक गृहीता जनक भी जानो यही ॥ १६ ॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ॥
ज्ञानंज्ञेयंज्ञानगम्यंहृदिसर्वस्यधिष्ठितम् ॥ १७ ॥

है तेजका भी तेज जिसको कहा है तमसे परे।
हैं ज्ञानरूप सुजाननेके योग्य औ सबसे परे ॥
जो योग्यपाने ज्ञान द्वारा हृदयमें सबके रहें ।
हे पार्थ ! यह हैं "ज्ञेय" जानो परमपद उसको कहें ॥ १७ ॥

"इन सबको जानलेनेका फल" १८.

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ॥
मद्भक्त एतद्विज्ञायमद्भावायोपपद्यते ॥ १८ ॥

जगमध्य सबसे अलग होकर सर्वका पालक यही ।
यों गुणातीत रु हैं गुणोंका एक भोक्ता वह सही ॥ १४ ॥

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ॥
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चांतिकेच तत ॥ १५ ॥

इन सर्वभूतों विषे अन्दर गूढ है बाहर वही ॥
वह अचरमय है और चर भी सूक्ष्मसे अविज्ञेय है ॥
अज्ञानियोंके लिये अर्जुन ! दूर अति निज ज्ञेय है ।
पर तत्त्व दर्शीके लिये वह बहुत ही निजपास है-॥ १५ ॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ॥
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णुप्रभविष्णुच ॥ १६ ॥

-जो भूतसबमें रहा इससे खण्ड बिन इकभास है ।
फिर भी प्रति तनमें दिखाता, भिन्न होकरके वही ।
सब जीवका पालक गृहीता जनक भी जानो यही ॥ १६ ॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ॥
ज्ञानंज्ञेयंज्ञानगम्यंहृदिसर्वस्यधिष्ठितम् ॥ १७ ॥

है तेजका भी तेज जिसको कहा है तमसे परे ।
हैं ज्ञानरूप सुजाननेके योग्य औ सबसे परे ॥
जो योग्यपाने ज्ञान द्वारा हृदयमें सबके रहें ।
हे पार्थ ! यह हैं "ज्ञेय" जानो परमपद उसको कहें ॥ १७ ॥

" इन सबको जानलेनेका फल " १८.

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ॥
मद्भक्त एतद्विज्ञायमद्भावायोपपद्यते ॥ १८ ॥

"पुरुष ही देहमें परमात्मा है। इस प्रकृति पुरुष ज्ञानसे पुनर्जन्म नष्ट होता है" २२-२३.

उपद्रष्टानुमंता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः॥
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥ २२॥

इस देहमें प्राकृतिक, गुणोंसे पुरुष भिन्न अलिप्त है।
जो पृथक रहकर भी प्रकृतिका पुरुष साक्षी गुप्त है॥
निष्क्रिय समीप हि रहैं इससे प्रकृतिके कृतमें कभी।
पुरुष प्रतिपक्षी न होकर समर्थक होता तभी॥
जड़ प्रकृतिको चिच्छक्तिसे वह धारके भर्त्ता रहैं।
निज सुखद चेतन शक्तिसे ही प्रकृतिके सुख दुख लहैं॥
अनुभव उसीका करे भोक्ता मोह आदिकका वही।
अतएव उसको पार्थ! भर्त्ता कहैं सबका है वही॥
ब्रह्मादिका भी इक महेश्वर परमात्मा कहते उसे।
फिर परम पुरुषोत्तम उसीको कहा जाता है इसे॥ २२॥

य एवं वेत्ति पुरुषः प्रकृतिं च गुणैः सह॥
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥२३॥

इस तरहसे जो पुरुष गुणसह प्रकृतिको जाने सही।
प्रारब्धके अनुसार वर्तत पुनर्जन्म न लें वही॥ २३॥

"भगवत्प्राप्ति या मोक्षके मार्ग—ध्यानयोग, सांख्ययोग, कर्मयोग और श्रद्धापूर्वक श्रवणसे भक्तियोग है" २४--२५.

ध्यानेनात्मनि पश्यंति केचिदात्मानमात्मना ॥
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ २४ ॥

नर ध्यानसे कोई अपनमें अपनसे देखें उन्हें ।
औ अन्य देखे सांख्ययोग सहायतासे भी जिन्हें ॥
फिर " कर्मयोग " सहायतासे ब्रह्मको कोई लखें ॥-२४ ॥

अन्ये त्वेवमजानंतो श्रुत्वान्येभ्य उपासते ॥
तेऽपि चातितरंत्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ २५ ॥

-स्फुट और कोई इसतरहसे जाननेमें नहीं रखें ।
निजशक्ति या अधिकारको वे आप्त पुरुषोंसे सुने ।
सदुपासना करते उन्हींकी मृत्युको तरते सुने ॥ २५ ॥

" क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे स्थावर, जङ्गम सृष्टि; इसमें जो अविनाशी है वे ही परमेश्वर हैं। अपने प्रयत्नसे उनकी प्राप्ति " २६--२७.

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजंगमम् ॥
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ २६ ॥

हे भरतर्षभ ! पदार्थ जो कुछ हुये जड़चेतन सभी ।
वह क्षेत्र औ क्षेत्रज्ञ योगाहि जान उत्पन्न हैं सभी ॥ २६ ॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठंतं परमेश्वरम् ॥
विनश्यत्स्वविनश्यंतं यःपश्यतिसपश्यति ॥२७॥

सब भूतगणमें एकरस हैं प्रतिष्ठित परमात्मा।
सब नाश होनेपर न होता नष्ट वह जगदातमा॥
इस रूपमें परमातमाको देखता वहि देखता—॥ २७॥

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवास्थितमीश्वरम्॥
न हिनस्त्यात्मनात्मानंततोयातिपरांगतिम्॥२८॥

—सर्वत्र जो सम भावमें स्थित ईशको है देखता॥
वह जीव अपनेसे अपनका घात करसकता नहीं।
अतएव पाता परमगतिको लेश संशय है नहीं॥ २८॥

" करने धरनेवाली प्रकृति है और आत्मा अकर्ता है। सब प्राणिमात्र एकमें है. और एकसे सब प्राणिमात्र होते हैं; यह जान लेनेसे ब्रह्म-प्राप्ति " २९-३०.

प्रकृत्यैवचकर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः॥
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं सपश्यति॥ २९॥

जो देखता सर्वत्र प्रकृतिसे कर्म सब होते सदा।
और निज आतमा अकर्त्ता देखता सो दिख मुदा॥ २९॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति॥
तत एवच विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा॥ ३०॥

जिस कालमें सब जीवगणके, पृथक पृथक स्वभावके।
स्थित देखता है एक ईश्वर कल्पना आधारके॥
उस ईशके संकल्पसेही देखता संसारको।
सब भूतके विस्तारको तब ब्रह्म पा सुख-सारको॥ ३०॥

"आत्मा अनादि और निर्गुण है अतएव यद्यपि वह क्षेत्रका प्रकाशक है तथापि निर्लिप्त है" ३१--३२.

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः॥
शरीरस्थोऽपि कौंतेय नकरोति न लिप्यते॥३१॥

कौंतेय! यों जिस ब्रह्मको पा उसें लखना चाहिये।
वे अनादि रु गुणरहित हैं जगदीश अव्यय जानिये॥
तनु रहत भी करते न कुछ हैं कर्मफल निर्लिप्त हैं-॥ ३१॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते॥
सर्वत्रावस्थितोदेहेतथात्मानोपलिप्यते॥ ३२॥

-सर्वत्र व्यापक व्योम जैसे सूक्ष्म-हित नहीं लिप्त है।
सर्वत्र वपुमें व्याप्त आत्मा देहगुण दोषादिमें।
होता न वैसे लिप्त इससे सङ्ग बिन भूतादिमें॥ ३२॥

यथा प्रकाशयत्येकःकृत्स्नं लोकमिमं रविः॥
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयतिभारत॥ ३३॥

रवि एक अर्जुन ! यथा सब स्थल विश्वको भासितकरें।
क्षेत्रज्ञ ईश्वर क्षेत्रसबको तथा नित भासित करें ॥ ३३ ॥

"क्षेत्र क्षेत्रज्ञके भेदको जानलेनेसे परमसिद्धि" ३४

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमंतरं ज्ञानचक्षुषा ॥
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यांति ते परम् ॥ ३४ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नामा त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

हैं क्षेत्र औ क्षेत्रज्ञका यों भेद उसको जानते।
निज ज्ञाननेत्रोंसे पुरुष औ प्रकृतिभेद पिछानते ॥
हैं बन्ध दायिनि प्रकृतिके क्षयभावरूपी मोक्षको।
जो जानते वे प्राप्त होते ब्रह्मको हर क्षोभको ॥ ३४ ॥

(१३)

इस तरह श्रीभगवान्के उपनिषद्में गाये हुए।
इस योगशास्त्रप्रबोधविषयक ब्रह्मविद्यामें हुए ॥
श्रीकृष्णअर्जुनवादमें यह पूर्णत्रयोदशध्याय है।
" क्षेत्र क्षेत्रज्ञविभाग योग " हि सुने सो सुखपाय है ॥

ॐ तत्सादिति पुष्करणा वंशावतंस शाण्डिल्यगोत्र ज्योतिर्विद् पण्डित कालूरामात्मजेन पुरोहित बदरीदासशर्मणा विरचितं हिन्दीपद्यमयं श्रीमद्भगवद्गीतार्थप्रबोधे "क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग" नामक त्रयोदशोध्यायः ॥ १३ ॥

ॐ तत्सत्

रवि एक अर्जुन ! यथा सब स्थल विश्वको भासितकरें ।
क्षेत्रज्ञ ईश्वर क्षेत्रसबको तथा नित भासित करें ॥ ३३ ॥

"क्षेत्र क्षेत्रज्ञके भेदको जानलेनेसे परमासिद्धि" ३४

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमंतरं ज्ञानचक्षुषा ॥
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यांति ते परम् ॥ ३४ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो
नामा त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

हैं क्षेत्र औ क्षेत्रज्ञका यों भेद उसको जानते ।
निज ज्ञाननेत्रोंसे पुरुष औ प्रकृतिभेद पिछानते ॥
हैं बन्ध दायिनि प्रकृतिके क्षयभावरूपी मोक्षको ।
जो जानते वे प्राप्त होते ब्रह्मको हर क्षोभको ॥ ३४ ॥

(१३)

इस तरह श्रीभगवान्के उपनिषद्में गाये हुए ।
इस योगशास्त्रप्रबोधविषयक ब्रह्मविद्यामें हुए ॥
श्रीकृष्णअर्जुनवादमें यह पूर्णत्रयोदशध्याय है ।
" क्षेत्र क्षेत्रज्ञविभाग योग " हि सुने सो सुखपाय है ॥

ॐ तत्सादिति पुष्करणा वंशावतंस शाण्डिल्यगोत्र ज्योतिर्विद् पण्डित कालूरामात्मजेन पुरोहित बदरीदासशर्मणा विरचितं हिन्दीपद्यमयं श्रीमद्भगवद्गीतार्थप्रबोधे " क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग " नामक त्रयोदशोध्यायः ॥ १३ ॥

ॐ तत्सत्

॥ श्रीभगवानुवाच॥

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ॥
यज्ज्ञात्वा मुनयःसर्वे परांसिद्धिमितो गताः ॥१॥

मैं कहूंगा फिर तुम्हें उत्तम सर्वज्ञानोंमें परं ।
निज ज्ञान जिसको जान मुनिगण सिद्धि पाई हैं परं ॥ १ ॥

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ॥
सर्गेऽपि नोपजायंते प्रलये न व्यथंति च ॥ २ ॥

इस ज्ञानकी ले शरण मेरे साथ एक स्वरूप हो ।
उत्पन्न होते सृष्टिकाल न प्रलय दुःख न रूप हो ॥२॥

" प्राणिमात्रका पिता परमेश्वर है और उनके आधीनस्थ प्रकृति माता है" ३-४.

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ॥
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥

हे पार्थ ! गर्भाधान स्थान सु प्रकृति मेरा उस विषे ।
मैं डालता हूं बीज जिससे जीव सारे हो उसे ॥ ३ ॥

सर्वयोनिषु कौंतेय मूर्त्तयः संभवंति याः ॥
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

कौंतेय ! उत्पन्नयोनिमें जीवगणकी जनयिता ।
है मातृरूपा प्रकृति उसका बीजदाता हूँ पिता ॥ ४ ॥

" प्राणिमात्रपर सत्त्व, रज और तमके होने-वाले परिणाम " ५--९.

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ॥
निबध्नंति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥

हे महाबाहो ! सत्त्व रज तम प्रकृतिके गुण तीन ये ।
इस अव्ययी जीवात्माको, बांधते तनु लीन ये ॥ ५ ॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ॥
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ ॥ ६ ॥

हे अनघ ! जो इन त्रयगुणोंमें स्वच्छ होनेसे तथा ।
है प्रकाशक निर्दोष इससे सत्त्वगुण नरको यथा ॥
सुख ज्ञानके सम्बन्धसे वह, सहजमें है बाँधता ।
जो दुखद बंधन रूप अहँ माति ज्ञानसुखमें डालता ॥ ६ ॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम् ॥
तन्निबध्नाति कौंतेय कर्मसंगेन देहिनम् ॥ ७ ॥

कौंतेय ! फिर अनुरागरूपी रजोगुण हैं जानिये ।
उत्पन्न तृष्णा सङ्गसे है कामनामय मानिये ॥
वह कर्मके फलमें फँसाकर बाँधता जीवात्मको ।
अतएव उससे सदा रखना सजग निज जीवात्मको ॥ ७ ॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनंसर्वदेहिनाम् ॥
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तान्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥

फिर सुनो भारत तमोगुण अज्ञान उत्पन जानिये ।
सब प्राणियोंको मोहके बिच डार रखता मानिये ॥
यह तमोगुण आलस्य निद्रा भूलसे जीवात्मको ।
बन्धनविषे है डालदेता भुलाकर परमात्मको ॥ ८ ॥

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ॥
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥

हे पार्थ ! देहीको फँसाता सत्त्वगुण सुखमें सदा ।
औ रजोगुण नरको फँसाता कर्मके फलमें सदा ॥
निजज्ञानको फिर ढाँक करके तमोगुण जीवात्मको ।
है प्रमादहिमें फंसा देता भुलाकर परमात्मको ॥ ९ ॥

"एक एक गुण अलग नहीं रहसकता । कोई दोको दबाकर तीसरेकी वृद्धि; और प्रत्येककी वृद्धिके लक्षण" १०-१३.

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ॥
रजःसत्त्वं तमश्चैव तमःसत्त्वंरजस्तथा ॥ १० ॥

सत्त्वगुण रज तमको दबाकर प्रकट होता है कभी ।
तम सत्त्वगुणको दबाकरके रजोगुण प्रकटे कभी ॥
औ तमोगुण होता प्रकट है दबाकर रज सत्त्वको ।
इसतरह तीनों जान करते विजय रज तम सत्त्वको ॥ १० ॥

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ॥
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥११॥

जब देहकी सब इन्द्रियोंमें ज्ञानका हि प्रकाश हो ।
तव समझजाना सत्त्वगुणका बढाहुआ विकाश हो ॥ ११ ॥

लोभः प्रवृत्तिरारंभः कर्मणामशमः स्पृहा ॥
रजस्येतानि जायंते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥

हे भरतर्षभ ! जब लोभ प्रवृत्ति कर्मका हिय हर्ष हो ।
बिन तृप्त बढ़ती लालसा तब रजोगुण उत्कर्ष हो ॥ १२ ॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ॥
तमस्येतानि जायंते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

हे पार्थ ! जब अविवेक अप्रवृति प्रमाद रु तम वृद्धि है ।
तब तमोगुणकी समझलेनाचाहिये गुण वृद्धि है ॥ १३ ॥

" गुण प्रवृद्धिके अनुसार कर्मके फल; और मरनेपर प्राप्तहोनेवाली गति " १४–१८.

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत ॥
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

जब सत्त्वगुण उत्कर्षमें है मृत्यु होती जीवकी ।
तब विज्ञ उत्तम सुकृतिजनके लोक हो गति जीवकी ॥ १४ ॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते ॥
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥

जो रजोगुण उत्कर्षमें मर पुरुष कर्मासक्तिके ।
उन मनुष्योंमें जन्म लेता विवश है रजशक्तिके ॥

औ तमोगुण उत्कर्षमें मर कीट पशु आदिक रही ।
अधयोनि उनमें जन्म लेता मूढ तामस है वही ॥ १५ ॥

कर्मणःसुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ॥
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥

फल कहा सात्त्विक कर्मका सुख ज्ञान शुचि वैराग्य है ।
मिल दुःख राजसकर्मका फल मोह तामस अज्ञ है ॥ १६ ॥

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ॥
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥

हो सत्त्वगुणसे ज्ञान उत्पन रजोगुणसे लोभ है ।
औ तमोगुणसे प्रमाद मोह अज्ञान होते क्षोभ है ॥ १७ ॥

ऊर्ध्वं गच्छंति सत्त्वस्था मध्येतिष्ठंति राजसाः ॥
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छंति तामसाः॥१८॥

नर सत्त्वगुण सम्पन्न जाते ऊर्ध्व लोकोंमें सदा ।
मध्यमें राजस-पुरुष स्थित नरलोकमें होते मुदा ।
निकृष्ट निद्राऽऽलस्य प्रमाद तमोगुणकी वृत्तिमें ।
स्थितहुआ तामस पुरुष जाता कीट पशु अधयोनिमें ॥ १८॥

"त्रिगुणातीत होजानेसे मोक्ष प्राप्ति" १९-२०.

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ॥,
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १९॥

जब विवेकी नर जानजाता गुणोंसे भिन है नहीं ।
जग दूसरा कर्त्ता न कोई नजरमें आता नहीं ॥

जब गुणोंसे पर आत्मतत्त्वहि जानलेता जो सदा ।
वह पुरुष मेरे भावको तब, प्राप्त होता हो मुदा ॥ १९ ॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ॥
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

यह पुरुष तन-उत्पत्ति कारक गुणोंको अतिक्रम करें ।
जग जन्म मृत्यु रु जरा दुखसे मुक्त होऽमृतको धरें ॥ २० ॥

" अर्जुनके प्रश्नकरनेपर त्रिगुणातीतके लक्षणका और आचारका वर्णन " २१-२६

॥ अर्जुन उवाच ॥

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ॥
किमाचारःकथंचैतांस्त्रीनगुणानतिवर्तते ॥ २१ ॥

किन लक्षणोंसे प्रभो ! जानाजात है मुझको कहो ।
" पुरुष त्रिगुणातीत " उसका आचार कैसा है कहो ?॥
वह कौनसे सदुपायसे इन गुणोंको अतिक्रम करे ? ।
बतलाइये श्रीकृष्ण लक्षण गुणातीतहि हैं खरे ॥ २१ ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पांडव ॥
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥ २२॥

है सत्व रज तम कार्य अर्जुन ! प्रकाश प्रवृत्ति मोहको ।
न स्वभावतः आते करे बुध द्वेषको हर द्रोहको ॥
न स्वभावतः निवृत्त होनेकी पुरुष आकांक्षा करें-॥ २२ ॥

---

१ उल्लंघन-या विजय ।

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ॥
गुणा वर्त्तंत इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ २३ ॥

—निर्लिप्त साक्षीरूपसे रह गुणोंसे चलत न अरे ।
गुण कररहे हैं काम अपने हूं न उनके फंदमें ॥
यह समझकर जो स्थित रहाहै अचल हो जग द्वंद्वमें ॥ २३॥

समदुःखसुखःस्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः ॥
तुल्यप्रियाप्रियोधीरस्तुल्यनिंदात्मसंस्तुतिः ॥ २४ ॥

सुख दुःखमें समभाव अपने रूपमें ही स्थित रहैं ।
सम भाव मिट्टी अश्म काञ्चन बीच धीरज धर रहैं ॥
प्रिय और प्रिय—बिनको बराबर समझता है फिर वही ।
समभाव निन्दा आतम स्तुतिमें रहै अविकृत[1] नित सही ॥२४॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ॥
सर्वारंभपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २५ ॥

अपमान मान रु मित्र रिपुमें एकरस रहता सदा ।
है वासनासे शून्य इससे कार्य शुरु करता मुदा ॥
पर किसीको करता स्वयं नहीं स्वतः जो कुछ प्राप्त है ।
हे पार्थ ! करता है उसे वह "गुणातीत" विदात्म है ॥२५॥

"एकान्त भक्तिसे त्रिगुणातीत अवस्थाकी सिद्धि और फिर सब मोक्षके, धर्मके एवं सुखके अन्तिम स्थान परपरमेश्वरकी प्राप्ति" २६-२७.

---

१ बिनाविकार शान्त अर्थात् क्षोभरहित ।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ॥
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयायकल्पते ॥ २६ ॥

जो मुझे अव्यभिचार भक्ति सु योगसे भजते मुदा ।
वह भक्त त्रिगुणातीत होकर ब्रह्ममें स्थित हो सदा ॥ २६ ॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ॥
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकांतिकस्य च॥२७॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योग-
शास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभाग योगोनाम
चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

मैं क्योंकि अव्यय ब्रह्मका औ अमृत सनातन धर्मका ।
हूं नित अखंड हि एकरस सुख एक आश्रय कर्मका ॥
अर्थात् अव्यय ब्रह्म औऽमृत दिव्य शाश्वत धाम है ।
एकान्त निज सुखआदि ये सब हमारे ही नाम हैं ॥
इसलिये इनका परम आश्रय एक मुझको ही गिनो ।
अतएव मेरा भक्त त्रिगुणातीत हो "बदरी" चुनो॥ २७॥

(१४)

इस तरह श्रीभगवान्के उपनिषद्में गाये हुए ।
इस योगशास्त्र प्रबोधविषयक ब्रह्मविद्यामें हुए ॥
श्रीकृष्णअर्जुनवादमें यह पूर्ण चौदहध्याय है ।
"गुणत्रय विभागयोग" पढकर मोक्ष लें सुखपाय है ॥

ॐ तत्सदिति पुष्करणा वंशावतस शाण्डिल्यगोत्र ज्योतिर्विद् पण्डित कार्ल्ह-
रामात्मजेन पुरोहित बदरीदासशर्मणा विरचितं हिन्दीपद्यमयं श्रीमद्भग-
वद्गीतार्थप्रबोधे "गुणत्रयविभागयोग "नामक चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

ॐ तत्सत् ।

अथ पन्द्रहवाँ-अध्याय ।

" पुरुषोत्तम योग "

इन क्षेत्र औ क्षेत्रज्ञके सुविचारके क्रमके विषे ।
अध्याय तेरहमें किया है, क्षेत्र क्षेत्रज्ञ हि विषे ॥
औ सांख्यके उन प्रकृति पुरुष विवेकको गाया तथा ।
अध्याय चौदहमें कही है प्रकृति त्रयगुणकी कथा ॥
त्रयगुणोंसे कैसे हुए हैं भेदभावहि मनुष्यमें ।
गतिभेद हो क्योंकर उसीसे सात्त्विकादिक मनुष्यमें ॥
फिर विवेचन यह किया कहते गुणातीत दशा किसे ।
अध्यात्म दृष्टिसु लिये अथवा कहे ब्राह्मी स्थिति किसे ॥
औ वही कैसे प्राप्त होती निरूपण यह सब किया ।
सांख्यकी परिभाषा विषे है अवश्य पर उनके किया ॥
द्वैतका अस्वीकार करते हुए जिस इक ईशकी ।
सुविभूति, प्रकृति रु पुरुष दोनों कहें उस विश्वेशकी ॥
अतएव उस परमात्माके दिव्य ज्ञान विज्ञानकी ।
शुभ दृष्टिसे सम्यक् किया है निरूपण निज-ध्यानकी ॥
है जरूरतसे परात्माके रूप वर्णनके सिवा ।
उन आठवें अध्यायमें अधियज्ञ औ अध्यात्मवा ॥
अधिदैव आदि दिखाचुके औ कहा पहलेसे यही ।
सब स्थलोंमें हरि व्याप्त एक ही क्षेत्र क्षेत्रज्ञहि वही ॥
अब प्रथम इस अध्यायमें यह बताते प्रभुकी रची ।
उस सृष्टिके विस्तारका या नामरूपमयी रची—॥

इस सृष्टिके विस्तारका ही कभी वृक्ष स्वरूपसे।
वनरूपसे या मिले वर्णन वीज कह उसका किसे॥
फिर ईशके सब स्वरूपोंमें श्रेष्ठ पुरुषोत्तम रहा।
उस रूपका वर्णन करेंगे सुनो समझो फल महा॥

"अश्वत्थरूपी ब्रह्मवृक्षके वेदोक्त और सांख्योक्त वर्णनका मेल" १--२.

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्॥
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥१॥

संसारको ज्ञानी जनोंने एक पीपल तरु कहा।
है मूल जिसका ऊर्ध्व शाखा अधः पत्ते श्रुति रहा॥
वस्तुतः प्रतिक्षण पलटता पर वेगमें नित है यही।
अश्वत्थको यों जानता जो वेदवेत्ता है वही॥ १॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबंधीनि मनुष्यलोके॥ २॥

इस विश्वमय अश्वत्थ तरुकी जीवशाखाएँ कही।
जो त्रिगुण जलसेंचन हुई हैं पुष्टपल्लवयुत रही॥
शब्दविषय अंकुर फूट निकले रूप रस आदिक मयी।
जड़योनिसे ले सत्य लोकहि ऊर्ध्व अध फैली हुयी॥

नरलोकमें निज-धर्मअधर्म कर्म सब उत्पन्न किये ।
कुछ मूल भी नीचे बहुत ही दूरतक हैं चलदिये ॥ २ ॥

" असंगसे इसको काटडालनाही इससे परेके अव्ययपदकी प्राप्तिका मार्ग है। अव्ययपद-वर्णन " ३--६.

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नांतो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ॥
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥

है मानसी यह सृष्टि इससे रूप दिख पाता नहीं ।
स्थिति अन्त आदि हि कहीं इसका दृष्टिमें आता नहीं ॥
अत्यन्त दृढ़ जड़रूप इस अश्वत्थ तरुको काटिये ।
ले अनासक्ति स्वरूप तीक्ष्ण शस्त्रसे फिर खोजिये ॥ ३ ॥

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः ॥
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

उस परमपदको जहाँसे फिर लौटना पड़ता नहीं ।
है क्योंकि जिससे सृष्टि होती एकरस फिर भी वही ॥
हे पार्थ ! अनादि कालसे यह सृष्टि जिसकी शक्तिसे ।
आती चली है उसी आदि हि पुरुषकी स्थिर भक्तिसे ॥

मैं शरण होता हूं रखो यह भाव पाओगे वहीं।
हो सृष्टि जिससे शरण उसकी लिये बिन मुक्ति न कहीं ॥४॥

निर्मानमोहा जितसंगदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ॥
द्वंद्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छंत्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥

हैं रहित मान विमोहसे जय-सङ्ग दोषोंको किये ।
परमात्म विषयक वादमें हैं सदारत मन वशलिये ॥
जो कामना बिन और सुखदुख द्वंद्वसे नित मुक्त हैं ।
वे महात्मा उस परमपदको पाय जीवनमुक्त हैं ॥ ५ ॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः ॥
यद्गत्वा न निवर्तंते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

जिस परमपदको प्राप्त हो फिर लौट आना है नहीं ।
है वही मेरा परमधाम सु सूर्य शशि पावक कहीं ॥
होती न किसकीभी अपेक्षा प्रकाशित करने उसे ।
है वही वास्तवमें प्रकाशक ईश उनका लख जिसे ॥ ६ ॥

"जीव और लिङ्गशरीरका स्वरूप एवं सम्बन्ध । ज्ञानीके लिये गोचर है"७-११.

ममैवांशो जविलोके जीवभूतः सनातनः ॥
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७॥

है अंश मेराही सनातन जीव इस संसारमें ।
जो प्रकृति स्थित मनसहित षटगो खेंचता है प्यारमें ।। ७ ।।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ॥
गृहीत्वैतानिसंयातिवायुर्गंधानिवाशयात् ॥ ८ ॥

देहादिकोंका ईश जब इस देहको पाता वही ।
फिर स्थूल तनसे निकलजाता, जीव तब इनको वही ।।
निज साथ ले जाता सदा है, पुष्पआश्रयसे यथा ।
है गंधको ले वायु जाती, पाञ्च गो मनको तथा ।। ८ ।।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ॥
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

यह जीव श्रोत्र हि चक्षु चमड़ी जीभ घ्राण रु मन लिये ।
है भोग करता विषय सुखको सहारा इनका लिये ।। ९ ।।

उत्क्रामंतंस्थितं वापि भुंजानं वा गुणान्वितम् ॥
विमूढा नानुपश्यंति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥

तनु छोड़कर जातेहुएको देहमें स्थित है जिसे ।
औ विषय सुखको भोगते या युक्त त्रयगुण है उसे ।।
हैं मूर्खलोग न देखसकते, विज्ञगण नित देखते ।
जो ज्ञानदृष्टि सु लिये अपने आत्मको स्फुट पेखते ।। १० ।।

यतंतो योगिनश्चैनं पश्यंत्यात्मन्यवस्थितम् ॥
यतंतोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यंत्यचेतसः ॥ ११ ॥

हैं क्योंकि योगीजन अपनके हृदय स्थित इस आत्मको ।
दृढ यत्न करके तत्त्वसे हैं जानते परमात्मको ।।

जो पुरुष अन्तःकरण निजको शुद्धकरपाया नहीं ।
अज्ञजन तो यत्नसे भी जानते इसको नहीं ॥ ११ ॥

"परमेश्वरकी सर्वव्यापकता" १२--१५.

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ॥
यच्चंद्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥

जो तेज रवि स्थित अखिल जगको, प्रकाशित करता रहै ।
लख चन्द्र पावकमें रहा वह तेज मेराही कहै ॥ १२ ॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ॥
पुष्णामिचौषधीःसर्वाःसोमोभूत्वारसात्मकः॥१३॥

हे पार्थ ! मैं ही भूमिमें सुप्रवेश करके ओजसे ।
धारण करूं हूं प्राणियोंको सदा अपनी मोजसे ॥
रसरूप शशि होकर सभी मैं पुष्ट औषधियें करूं-॥ १३ ॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ॥
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥

-और मैं ही सब प्राणियोंके देहमें स्थितिको धरूं ।
जो अग्नि वैश्वानर हुआ जग प्राण और अपानसे ।
हो युक्त चार प्रकार अन्नहि पचाता हूं ध्यानसे ॥ १४ ॥

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ॥
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदांतकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥

हूं प्राणियोंके हृदयमें स्थित पार्थ! मेरेसे तभी।
स्मृति, ज्ञान होता नाश इनका और मैं ही हूं सभी॥
इन वेद द्वारा जाननेके योग्य मैं ही वेदके।
अन्तमय वेदान्त-कर्त्ता, तत्त्वविद् हूं वेदके॥ १५॥

"क्षराक्षर लक्षण। इससे पर पुरुषोत्तम" १६-१८.

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च॥
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥१६॥

इस लोकमें क्षर और अक्षर पुरुष द्वय लक्षण सुनो।
है सभी भौतिक वस्तु अर्जुन! नाशवान हि "क्षर" गिनो॥
क्षर मूलकारण प्रकृति अव्यय कहाती "अक्षर" वही॥१६॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः॥
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥ १७॥

इन उभयसे है पुरुष उत्तम विलक्षण उसको यहीं।
है परात्मा यह कहाजाता ईश अव्यय है सही॥
त्रयकालमें रह करें रक्षा पालता पोषे वही ॥ १७॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः॥
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥१८॥

अतएव हूं क्षरसे अतीत रु सदा अक्षरसे परे।
इसलिये लोक रु वेदमें हूं प्रसिद्ध पुरुषोत्तम खरे॥ १८॥

"इस गुह्यपुरुषोत्तम ज्ञानसे सर्वज्ञता और कृतज्ञता" १९-२०.

योमामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ॥
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ १९ ॥

हे पार्थ ! जो इसतरह ज्ञानी मुझे पुरुषोत्तम लखें ।
वह सर्वज्ञाता सब तरहसे भजे मुझको हिय रखें ॥ १९ ॥

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ ॥
एतद्बुद्ध्वाबुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्चभारत ॥ २०

ॐतत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योग
शास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम
पंचदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

हे अनघ ! भारत ! स्पष्ट ऐसे गुह्य अति इस शास्त्रको ।
कह दिया मैंने तुम्हें जानत तत्त्वविद् इस शास्त्रको ॥
कृतकृत्य होकर बुद्धिमान हि आत्म अनुभवको करे ।
भव वृक्षकी जड़काट " बदरी " पुरुष उत्तम हिय धरे ॥ २० ॥

(१५)

इस तरह श्रीभगवान्के उपनिषदमें गायेहुए ।
इस योगशास्त्रप्रबोध विषयक ब्रह्म विद्यामें हुए ॥
श्रीकृष्ण अर्जुनवादमें यह पूर्ण पन्द्रहध्याय है ।
पुरुष " पुरुषोत्तमयोग " समझत, पुरुष परमिल जायहै ॥

ॐ तत्सादिति पुष्करणा वंशावतंस शाण्डिल्यगोत्रज्योतिर्विद् पण्डित कालूरामा-
त्मजेन पुरोहित बदरीदासशर्मणा विरचितं हिन्दीपद्यमयं श्रीमद्भगवद्गीतार्थ-
प्रबोधे " पुरुषोत्तमयोग " नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

ॐ तत्सत् ।

अथ सोलहवाँ अध्याय ।

"दैवासुर सम्पद्विभाग योग"।

उक्त पुरुषोत्तम योगसे उन क्षराक्षरविज्ञानकी ।
है परम अवधि सु होचुकी औ सातवें अध्यायकी ॥
जिस ज्ञान औ विज्ञान गाथा निरूपण की इसलिये ।
निज कर्म योगाचरण करते ज्ञान ईश्वरका हुए ॥
जग शीघ्र उससे मोक्ष मिलता यहां उसकी होगई ।
हैं समाप्ति रु जब उसे उपसंहारकी इच्छा हुई ॥
तब उसे करना चाहिये, पर नवेंमें हरिने कहा ।
संक्षेपमें जो राक्षसी नर जानते न मुझे अहा ॥
अव्यक्त उत्तम रूपको वे उसीका करते अभी ।
स्पष्ट स्पष्टीकरणके हित अध्याय रचना की सभी ॥
और अगले अध्यायमें फिर हेतु इसका कहदिया ।
नर नरोंमें क्यों भेद होते ? हैं उसे समझादिया ॥
और फिर उपसंहार करते अठारहवें अध्यायमें ।
सम्पूर्णगीताका उसीसे मोक्ष है अध्यासमें ॥

"दैवीसम्पत्तिके छब्बीस गुण" १-३.

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ॥
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥

हे पार्थ ! जो तनु दार सुतप्राति, मोहके कारण लिये ।
भय मृत्युमें लगता उसे कर विलय सो "निर्भय" हुए ॥

स्वच्छता अन्तःकरणकी हो स्पष्ट " सात्त्विकवृत्ति " से ।
रह " तत्त्वज्ञान " स्वयोगमें दृढ सदा स्थिति कृतरीतिसे ॥
औ नित्य सात्त्विक "दान" दें "गोदमन" "यज्ञाचरन" है ।
"स्वाध्याय" तप निज धर्मपालन हेतु कष्ट हि सहनहै ॥
तनु इन्द्रियोंके सहित मनकी " सरलता " रखना सही ।
अर्थात् टेढ़ाकार्य जगमें क्रूरहो करना नहीं ॥ १ ॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शांतिरपैशुनम् ॥
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥

मन वाणी तनसे कष्ट कुछ भी किसीको होवें नहीं ।
औ देश काल स्वभाव पात्रहि जान दुख देवें नहीं ॥
है " अहिंसा " "सत्य" वह जो श्रेयकर प्रिय बोलना ।
अपकार करता पर न करते क्रोध लक्ष न छोड़ना ॥
कुप्रहार या आक्षेपको नहीं करे वह " अक्रोध " हैं ।
जो कर्ममें कर्त्तापनेके-मानका सु विरोध है ॥
है "त्याग" उसको कहाजाता "शान्ति" निजको धारते ।
फिर किसीकी चुगली न करना " अपैशुन " उचारते ॥
विन हेतुसारे प्राणियोंपर आर्द्रहोना ही " दया " ।
इन्द्रियोंका विषयसह संयोग होते हु न किया ॥
आसक्त उनमें चित्तको वह "अलोलुप" फँसता नहीं ।
निज चित्तकी कठोरताका अभाव " मार्दव " है सही ।
जो लोगशास्त्र विरुद्ध कृतमें चित्त भय सङ्कोच है ॥

---

१ दुःखीको या अज्ञानीको देखकर अन्तःकरण पिगल जाय वहीं दया है ।

अर्थात् कुत्सितकार्यसे मुख मोड़ना "लज्जा" कहै।
इक लक्षपर स्थिर नहीं रहकर व्यर्थ चेष्टाएं करे॥
इस मूढताका नाश होना "चपलता" सो है अरे॥ २॥

तेजः क्षमा धृतिःशौचमद्रोहो नातिमानिता॥
भवंति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत॥ ३॥

अन्यायके आचरण कर्ता जड़ोंपर अधिकार हो।
जिस शक्तिसे सब लोग दबते हृदयमें सुविचार हो॥
कल्याणका आचरण करना "तेज" कहते हैं उसे।
बल आपमें रहते हुएभी सर्वदा शुध भावसे॥
नर अन्यके अपराधको जो सहन करलेना वही।
है "क्षमा" इससे पुरुषके जग शत्रु कोई हो नहीं॥
सुखदुःखमें भी लक्षको हैं नहीं जिससे भूलते।
हैं सदा अपने धर्ममें रत, "धैर्य" उसको बोलते॥
निज भावको नित शुद्ध रखना अछूतहिं[1] छूना नहीं।
है शुद्ध अन्दर और बाहर "शौच" मल नाशक वही॥
सब विश्वके कल्याणकारण स्वार्थ जिससे छोड़दे।
हो किसीमें भी शत्रुभाव न डाहसे मुँह मोड़दे॥
"अद्रोह" कहते हैं उसीको और अधिक न मान हो।
निज पूज्यताके भावके अभिमानकी पहिचान हो॥
औ उसीको त्याग देना "अतिमान" तजना है वही।
षटबीस.दैवी सम्पदाको प्राप्त नरके गुण यही॥ ३॥

---

१ जो जन्मसेही या किसी निमित्तसे अपवित्र और असंस्कारी है।

" आसुरी सम्पत्तिके लक्षण " ४.

दंभो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ॥
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥ ४ ॥

जो धर्मध्वजी समान करता व्यर्थ आडम्बर यदा।
कर पार्थ तनसम्पत्ति आदिक गर्व क्षणभंगुर सदा ॥
हम बहुतही हैं बड़े ऐसा दिखाते जो भावको।
बोलना रूखा निठुरता अज्ञान क्रोध स्वभावको ॥
ये आसुरी संपत्ति जन्मे हुए नरको प्राप्त हो।
अतएव इनके सर्वथाही त्यागसे सुख प्राप्त हो ॥ ४ ॥

" दैवी सम्पत्ति मोक्षप्रद है और आसुरी बंधकारक है " ५.

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ॥
माशुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पांडव ॥ ५ ॥

दें मोक्ष दैवी सम्पदा यह स्पष्ट मम सम्मति रही।
औ आसुरी है बंधकारक दुःखप्रद मानी गयी ॥
हे पार्थ ! चिन्ता करो मत तुम क्योंकि हो जन्मेहुए।
प्रिय सुखद दैवी सम्पदामें मोक्षको चाहते हुए ॥ ५ ॥

" आसुरीलोगोंका विस्तृतवर्णन " ६-१९.

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ॥
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥

हे पार्थ ! सुन इसलोक दैवी और आसुरि प्रकृतिके।
सब जीवगण हैं दो तरहके तहां दैवी प्रकृतिके॥
इन प्राणियोंके विषयमें तो बहुत कुछ बोलागया।
अब आसुरी सम्पत्ति लक्षण जा रहा वर्णन किया॥ ६॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः॥
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥७॥

वे असुर लोग न जानते हैं कार्य और अकार्यको।
अर्थात् करने योग्य क्या है जानते न अकार्यको॥
आचार शौच न सत्य कुछभी जानते तम जन्म हैं-॥ ७॥

असत्यमप्रतिष्ठंते जगदाहुरनीश्वरम्॥
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम्॥ ८॥

-ये जगत्को कहते असत्य रु अनीश्वरमय जन्म है।
है निराश्रित जग मूलमें नहीं ईशसे उत्पन्न हुआ।
स्त्री पुरुषके संयोगसे हो अन्य कारण नहीं हुआ॥
हैं काम इसका हेतु केवल असुर कहते यों सभी।
उत्पत्तिकारण जगत्का यों बताकर भ्रमते सभी॥ ८॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः॥
प्रभवंत्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥ ९॥

कुविचारका यों लिया आश्रय मन्दमति नष्टातमा।
हैं उग्रकर्मा प्रकृति-आसुर अमङ्गल दुष्टातमा॥
संसारके क्षय हेतु ऐसे असुर जन्मत जग-विषे-॥९॥

काममाश्रित्य दुष्पूरं दंभमानमदान्विताः॥
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान्प्रवर्ततेऽशुचिव्रताः॥१०

—दुष्पारकाम-निमग्न उन्मत दंभ मान रु मदविषे ।
अविवेकसे कर असत निश्चय अशुचि व्रतमें हैं लगे ॥
अपवित्रकार्योंको करे नित घोर पापोंमें लगे ॥ १० ॥

चिंतामपरिमेयां च प्रलयांतामुपाश्रिताः ॥
कामोपभोगपरमा एतावदितिनिश्चिताः ॥ ११ ॥

मरणान्त चिन्तामें रहै रत अनन्त आशाएं रखें ।
हो काम भोगोंमें सदारत उन्हींको सब कुछ लखें ॥ ११ ॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ॥
ईहंते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥ १२ ॥

सैकड़ों आशापाससे हैं बद्ध बत होते हुए ।
वे काम क्रोधहि परायण हो जन्मते मरतेहुए ॥
कर काम भोगाहितार्थ संचय अर्थका अन्यायसे ।
दुखमूल चेष्टाएं करें नित विमुख होकर न्यायसे ॥ १२ ॥

इदमद्य मयालब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ॥
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥

यह आज मैंने पालिया, है इस—मनोर्थाहिं कल करे ।
यह वित्त मेरा और वह भी हमारा होगा अरे ॥ १३ ॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ॥
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥१४॥

इस शत्रुको मैंने लिया हूं मार, औरोंको अभी ।
जग मारदूंगा मैं बड़ा हूं सबसे भोगी सभी ॥
कृतकृत्य हूं बलवान मैं ही सौख्यसम्पन हूं सदा—॥ १४ ॥

आढ्योऽभिजनवानस्मिकोऽन्योऽस्तिसदृशो मया॥
यक्ष्येदास्यामिमोदिष्यइत्यज्ञानविमोहिताः॥१५॥

—मैं धनी मानी कुलीन हि हूं कौन मेरे सम मुदा ।
मैं यज्ञद्वारा दान देकर बड़ा सबसे ही बना ।
जगमें रहूंगा औ करूंगा मौज उत्तम स्थल बना ॥ १५ ॥

अनेक चित्तविभ्रांता मोहजालसमावृताः ॥
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतंतिनरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥

वे इस तरह अज्ञान मोहित कल्पना करतेहुए ।
भूले हुए हैं मोहके दुख फन्दमें फंसे हुए ॥
आसक्त विषय सुभोगमे हैं असुरजन गिरते सभी ।
मल मूत्रपूर्ण अपवित्र रौरव नरक दुख पाते तभी ॥ १६ ॥

आत्मसंभाविताःस्तब्धाधनमानमदान्विताः ॥
यजंते नामयज्ञैस्ते दंभेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७॥

है स्वयंही अपनी प्रशंसा, करनमें रत वे सदा ।
फिर ऐंठसे वर्तावकरते मान-मद-धनमें.सदा—॥
हो चूर, ये सब जीव आसुरि दंभसे विधि छोड़के ।
हैं यज्ञ करते नाममात्रहि शास्त्रसे मुख मोड़के ॥ १७ ॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ॥
मामात्मपरदेहेषुप्रद्विषंतोऽभ्यसूचकाः ॥ १८ ॥

बलदर्प काम रु क्रोध दुखप्रद मानमें वे मस्त हों ।
निज, अन्यतनमें रहै मुझसे द्वेष करके अस्त हो ॥
सदगुणोंमें भी असुर दोषहि देखते रहते उन्हें- ॥ १८ ॥

तानहं द्विषतःक्रूरान्संसारेषु नराधमान् ॥
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥

हैं क्रूर द्वेषी अशुभकर्मी नराधम प्राणी जिन्हें ।
मैं आसुरीमयि योनियोंमें वार बहु संसारमें ।
नित पटकता हूं पार्थ ! ऐसे जड़ोंको संसारमें ॥ १९ ॥

"असुरोंको जन्मजन्ममें अधोगति मिलतीहै" २०.

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ॥
मामप्राप्यैव कौंतेय ततो यांत्यधमां गतिम् ॥२०॥

लें जन्म जन्महि आसुरीमय योनिको ही वे सभी ।
औ मुझे पाते नहीं इससे अधिक अधगति जा सभी ॥ २० ॥

" नरकके त्रिविधद्वार–काम क्रोध और लोभ इनसे बचनेसे कल्याण है " २१–२२.

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ॥
कामःक्रोधस्तथालोभस्तस्मादेतत्त्रयंत्यजेत् ॥२१॥

जग काम क्रोध रु लोभ तीनों नरकके ये द्वार हैं ।
ये नाशकर्ता आत्मके तम नरकसाधन द्वार हैं ॥ २१ ॥

एतैर्विमुक्तः कौंतेय तमोद्वारैस्त्रिभिनरः ॥
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततोयातिपरांगातिम् ॥ २२॥

अतएव इन त्रयको तजो हे पार्थ ! इनसे मुक्त हो ।
निज श्रेयका आचरण करना परम गति जा युक्त हो ॥ २२॥

"शास्त्रानुसार कार्य अकार्यका निर्णय और आचरण करनेके विषयमें उपदेश" २३–२४.

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ॥
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥२३॥

जो शास्त्र विधिको छोड़ करता कर्म मनमाना उसे ।
सुख सिद्धि श्री मिलती नहीं तब, परमगति मिल कब इसे२३॥

तस्माच्छास्त्रंप्रमाणंतेकार्याकार्यव्यवस्थितौ ॥
ज्ञात्वाशास्त्रविधानोक्तंकर्मकर्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसंपद्वि-
भागयोगोन म षोडशोऽध्याय; ॥ १६ ॥

इस लिये कार्य अकार्य निर्णय, हेतु तुमको चाहिये ।
सत्शास्त्रको ही मानना औ प्रमाण प्रबल जानिये ॥
इस विश्वमें सच्छास्त्रमें क्या है विधान किये गये ? ।
यह जान " बदरी " कर्म करना चाहिये सुखके लिये॥२४॥

(१६)

इसतरह श्रीभगवान्के उपनिषद्में गायेहुए ।
इस योगशास्त्रप्रबोधविषयक ब्रह्मविद्यामें हुए ॥
श्रीकृष्णअर्जुनवाद्में यह पूर्ण षोड़श ध्याय है ।
" दैवासुरसम्पाद्विभागयोग " पढे सो सुख पाय है ॥

ॐ तत्सदिति पुष्करणा वंशावतंस शाण्डिल्यगोत्र ज्योतिविद् पण्डित कालू-
रामात्मजेन पुरोहित बदरीदासशर्माणा विरचितं हिन्दिपद्यमयं श्रीमद्भग-
वद्गीतार्थप्रबोधे"दैवासुरसंपाद्विभागयोग"नामक षोड़शोऽध्यायः॥१६॥

॥ ॐ तत्सत ॥

अथ सत्रहवाँ अध्याय.

"श्रद्धात्रय विभागयोग"

इस बातका यहांतक हुआ है स्पष्टवर्णन समझिये ।
इस कर्मयोग सु शास्त्रके अनुसार जगके जानिये ॥
होते पुरुष किस तरह धारक और पोषक हैं तथा ।
संसारनाशक पुरुष कैसे ढंगके होते वृथा ? ॥
अब प्रश्न होता सहज ही यह भेद नरमें क्यों हुए ? ।
औ वही कैसे शान्त होता कर्मयोगलियेहुए ॥
इस बातका उत्तर दिया है सातवें अध्यायमें ।
प्रत्येक नरका स्वभाव यह है किन्तु उस अध्यायमें ॥
त्रयसत्त्वरजतममयगुणोंका विवेचन नहीं होसका ।
अतएव वहां इस प्रकृतिजन्याहि भेद ऊहापोहका ॥
विस्तार पूर्वक होसका नहीं पूर्ण वर्णन इसलिये ।
प्रभु चौदहवें अध्यायमें त्रय गुणोंके परिचय दिये ॥
औ विवेचन था किया; अब अध्याय इसमें यह कहो ।
कि त्रिगुणोंसे उत्पन्न श्रद्धा आदि स्वाभाविक रहो ॥
है भेद क्योंकर कहो होते और इसमें फिर किया ।
ज्ञान और विज्ञानका सब निरूपण पूरा किया ॥
इस तरह नवमेंऽध्यायमें है भक्तिपथके जो रहें ।
थे अनेकों बहुभेद पाये गये थे उनके रहैं ॥
कारण उन्हें भी कहा इसमें स्पष्टतः समझो उन्हें ।
अध्यायकी उपपात्तिसे सब सहज समझा जा जिन्हें ॥

" अर्जुनके पूछनेपर प्रकृति--स्वभावानुसार सात्त्विक आदिक त्रिविध श्रद्धाका वर्णन जैसी श्रद्धा वैसा पुरुष " १--४.

॥ अर्ज्जुन उवाच ॥

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजंतेश्रद्धयाऽन्विताः ॥
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहोरजस्तमः ॥१॥

हे कृष्ण ! जो नर शास्त्रविधिको छोड़ श्रद्धायुत हुए ।
देवादिकोंका करें पूजन नित्य उनकी स्थिति लिये ॥
गति कौनसी है सात्त्विकी या राजसी तामसि उसे ।
मुझको बतावों दयाकर सन्देह मेरा हट जिसे ॥ १ ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ॥
सात्त्विकी राजसी चैवतामसी चेतितां शृणु॥२॥

हे पार्थ ! श्रद्धा प्राणियोंकी स्वभाविक त्रय होगई ।
है सात्त्विकी या राजसी औ तामसी त्रयविध कही ॥ २ ॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ॥
श्रद्धामयोऽयंपुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एवसः ॥ ३ ॥

तुम सुनो मुझसे उसे भारत ! नरोंकी श्रद्धा मुदा ।
अनुरूप अन्तःकरण उनके वही होती है सदा ॥
यह पुरुष श्रद्धामय रहा है इसीसे समझो यही ।--

—जो पुरुष श्रद्धावान जैसा स्वयं वैसा है वही ॥
अर्थात् श्रद्धा यथा जिसकी तथा उसका रूप है—॥ ३ ॥

यजंते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ॥
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजंते तामसाजनाः ॥ ४ ॥

—अतएव सात्त्विक पुरुष करते देव अर्चन खूब है ॥
जग पूजते हैं यक्ष राक्षस पुरुष राजसभावके ।
है अन्य तामस पुरुष पूजक प्रेत भूत प्रभावके ॥ ४ ॥

"इनसे जो भिन्न हैं वे आसुर हैं" ५—६.

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यंते ये तपो जनाः ॥
दंभाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥
कर्षयंतः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ॥
मांचैवांतःशरीरस्थंतान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६॥

अभिमान दंभ वियुक्त है जो कामकी आसक्तिके ।
बलसे बली है मूढ नर वे देहस्थित सब व्यक्तिके ॥ ५ ॥
जनसंघके ही साथ मुझको देहके भीतर रहै ।
जड़ कष्ट देतेहुए उसको शास्त्रगर्हित कर रहै ॥
जो घोर तप प्रारंभ उनको आसुरीय स्वभावके ।
सम्पन्न जानो दूसरे निज दुःखदायि स्वभावके ॥ ६ ॥

"सात्त्विक, राजस और तामस आहार" ७-१०.

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ॥
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥

आहार सबको त्रिविध प्रिय है यज्ञ तप औ दान भी।
हैं त्रिविध ऐसे ही सुनो प्रिय भेद समझो ज्ञान भी ॥ ७ ॥

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ॥
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः

जो आयु सात्त्विकवृत्तिबल आरोग्य चित्त प्रसन्नता।
है बढानेवाला सदा रुचि मधुर रस सम्पन्नता ॥
हो स्नेहयुक्त हि सारवाला और मनका प्रिय वही।
आहार सात्त्विक जनोंको प्रिय सदा होता है यही ॥ ८ ॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षाविदाहिनः ॥
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

है नीमि जैसे कटुक औ फिर उष्ण अतिखट्टा कहा।
जो मिरचवत तीखा रु रूखा स्नेह बिन दाहक रहा ॥
तत्काल दुखदायी करें फिर रोगको उत्पन्न वही।
आहार यह राजस जनोंको सदाप्रिय होता सही ॥ ९ ॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ॥
उच्छिष्टमपिचामेध्यंभोजनंतामसप्रियम् ॥ १० ॥

कुछ कालका रक्खा रु ठण्डा सारहीन हुआ तथा।
दुर्गन्ध पूर्ण रु वासी जूठा पियाज लहसुनके यथा ॥
अपवित्र है आहार ऐसा तामसिकजन प्रिय रहा।
यों त्रिविध प्रिय आहारको स्फुट पार्थको हरिने कहा ॥ १० ॥

"त्रिविध (तीन प्रकारका) यज्ञ "११--१३.

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ॥
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय ससात्त्विकः ॥११॥

फल कामनासे रहित नरको यज्ञ करना चाहिये ।
कर्तव्य है इस भावनासे एक मनकर पाइये ॥
हो शास्त्रविधि आरंभ यज्ञहि कहे सात्त्विक मख उसे ।
प्रति दिवस करना चाहिये मिल मोक्षफल नरको जिसे॥११॥

अभिसंधाय तु फलं दंभार्थमपि चैव यत् ॥
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ १२ ॥

हे पार्थ ! पर फल कामनासे दंभ वैभवसे इसे ।
जो कियाजाता यज्ञ वह है राजसिक जानो उसे ॥ १२ ॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मंत्रहीनमदक्षिणम् ॥
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

जिसमें न है शास्त्रीयविधि अन्न–दान ब्राह्मणको नहीं ।
स्वर वर्णसह जहँ मन्त्र पढना कभी होता है नहीं ॥
औ दक्षिणा भी दी न जाती शून्य श्रद्धासे सभी ।
हैं कृत्य होवे यज्ञ ऐसा तामसिक कहते सभी ॥
कल्याणमय फल नहीं मिलता इसीसे हरिने कहा ।
है अधोगतिका हेतु शुद्धि न द्रव्य मन्त्र न कृत रहा ॥ १३ ॥

"तपके तीन भेद–शारीर, वाचिक और मानस" १४–१६.

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ॥
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥

गुरु देव द्विज औ प्राज्ञपूजन, नित्य करना नियमसे।
शुद्ध रहना सरलतासे वर्ताव करना विनयसे॥
व निषिद्ध मैथुनत्याग तनुसे, किसीकी करना नहीं।
हिंसा बुराई कभी, कहते, शारीरिक तप है यही॥ १४॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्॥
स्वाध्यायाभ्यसनंचैववाङ्मयं तपउच्यते॥१५॥

उद्वेग उत्पन हो न जिससे किसीके मनमें कभी।
प्रिय सत्य हितकारी कहे वच वेदपाठ करें सभी॥
तप वाचानिक वह कहाजाता कर्मनिज अभ्यासको।
कहे वाङ्मयी तप सत्य भाषण, श्रेष्ठ वाक विलासको॥१५॥

मनःप्रसादःसौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः॥
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥ १६॥

सुप्रसन्न मनको शुद्ध रखना शान्तिसे हर क्रूरता।
है सौम्यभाव रु मौनवृत्ति सु रखे मन एकाग्रता॥
हो भावना शुध विषय गणमें रखें मनसंयत यही।
तप मानासिक है कहाजाता चित्त चञ्चलता नहीं॥ १६॥

"इनमें सात्त्विक आदिभेदोंसे प्रत्येक तप त्रिविध है" १७-१९.

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः॥
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैःसात्त्विकं परिचक्षते॥ १७॥

फल कामनाको छोड़ करते योगयुत स्थिर बुद्धिसे ।
जब परम श्रद्धा साथ तीनों तपोंको समबुद्धिसे ॥
तब त्रिविध तप हैं कहे जाते श्रेष्ठ सात्त्विक नामसे ।
जिससे तपोधन विश्वहित कर उसे कह पर-धामसे ॥ १७ ॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत ॥
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥

सत्कार पूजा मानके हित दंभसे जाते किये ।
जो त्रिविध तप नरलोकमें है तुच्छ फलपाने लिये ॥
है क्षणिक फल प्रद चपल ऐसे राजसिक तप है उन्हें ॥
जो पुरुष करते स्वर्ग मिलते भोगनाना विध उन्हें ॥ १८ ॥

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ॥
परस्योत्सादनार्थंवातत्तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥

निज मूढता औ दुराग्रहसे कष्ट निज देकर यदा ।
नर त्रिविध तपको विश्वदुखाहित श्रेय अपना हर सदा ॥
जो दूसरेके नाशके हित किया जाता है वही ।
जग तामसिक तप कहाजाता व्यर्थ है सुखकर नहीं ॥ १९ ॥

"सात्त्विक आदित्रिविधदान" २०--२२.

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ॥
देशे काले च पात्रे च तद्दानंसात्त्विकंस्मृतम्॥२०॥

जो मुझे देना चाहिये इस बुद्धिसे दे दानको ।
उपकार पीछा कर न उसको देश काल रु पात्रको ॥
सुविचारके जाता दिया है दान सात्त्विक कह उसे-॥२० ॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ॥
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ २१॥

—उपकार आशा किसी फलकी कामनासे जो इसे ।
दे खिन्न चित्त हो दान उसको राजसिक जाता कहा—॥२१ ॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ॥
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

—जो दान अयोग्य देश काल रु पात्रमें करता रहा ।
सत्कारशून्य अवज्ञाके साथ जाता है दिया ॥
उस दानको कह तामसिक जो शास्त्रविधि बिन है किया२२॥

" ॐ तत्सत् ब्रह्म—निर्देश "२३.

ॐतत्सदितिनिर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ॥
ब्राह्मणास्तेनवेदाश्चयज्ञाश्चविहिताःपुरा ॥ २३ ॥

अब ओम् तत्सत् तीन द्वारा ब्रह्मका निर्देश है ।
निर्देशके अनुसार पहिले सृष्टि काल विशेष है ॥
जहँ वेदब्राह्मण यज्ञ आदिक प्रकट सब प्रभुने किये ।
उन ब्रह्महीका रूप तीनों ओम तत्सत् ये हुये ॥ २३ ॥

" इनमें ॐ से आरंभ सूचक, तत्से निष्काम और सत्से प्रसस्त कर्मका समावेश होता है ,, २४–२७.

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ॥
प्रवर्तंते विधानोक्ताःसततंब्रह्मवादिनाम् ॥ २४ ॥

हे पार्थ ! इस सङ्कल्पसे जग चराचर उत्पन्न हुए।
अतएव सुखप्रद ब्रह्मवादी ओम कहकरके किये ॥
तप यज्ञ दान रु अन्यकर्मजु शास्त्र विहित हि सब धरें-॥२४॥

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ॥
दानक्रियाश्चविविधाः क्रियंतेमोक्षकांक्षिभिः॥२५

-तत् बोलके वे फलाकांक्षा त्याग मोक्षार्थी खरें।
करते सदा हैं विविध बहु नित यज्ञ दान रु तप क्रिया-॥२५॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ॥
प्रशस्ते कर्माणि तथा सच्छब्दःपार्थयुज्यते ॥ २६॥

-अस्तित्व है जम साधुतार्थहि शब्द सत् बोलागया।
उल्लेख इसी प्रकारसे है माङ्गलिक सुविधानमें ॥
सत्शब्द होता है प्रयुक्त हि पार्थ ! श्रेयस स्थानमें ॥ २६ ॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिःसदिति चोच्यते ॥
कर्म चैवतदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ २७ ॥

हैं यज्ञ तप औ दान स्थितिमें भावस्थिर रखने लिये।
सत्शब्दका उपयोग करते तथा इनके हित लिये ॥
शुभकर्म करना हो उसीका नाम भी सत मूल है।
अतएव दोनों कर्म समझो ब्रह्मके अनुकूल है ॥ २७ ॥

"शेष अर्थात् असत् इस लोक और परलोकमें निष्फल है" २८.

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्॥
असदित्युच्यते पार्थ नच तत्प्रेत्य नो इह॥ २८॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभाग-योगो नाम सप्तदशोऽध्यायः॥ १७॥

हे पार्थ! श्रद्धा विन अनुष्ठित, हवन दान रु तप सभी।
हो कर्म जो कुछ असत उससे लोक परलोक न कभी॥
कल्याण होता कहीं भी नहीं अतः श्रद्धासे करो।
तप यज्ञ दान स्वकर्म जिनसे श्रेय हो "बदरी" खरो॥२८॥

(१७)

इस तरह श्रीभगवानके उपनिषदमें गाये हुए।
इस योगशास्त्र प्रबोधविषयक ब्रह्मविद्यामें हुए॥
श्रीकृष्ण अर्जुन वादमें यह पूर्ण सत्रहध्याय है।
"श्रद्धात्रयविभाग योग" हि पढे सो सुखपाय है॥

तत्सदिति पुष्करणा वंशावतंस शाण्डिल्यगोत्र ज्योतिर्विद् पण्डित कालूरामात्मजेन पुरोहित बदरीदासशर्मणा विरचितं हिन्दीपद्यमयं श्रीमद्भगवद्गीतार्थप्रबोधे "श्रद्धात्रयविभाग योग" नाम सप्तदशोऽध्यायः॥१७॥

अथ अठारहवाँ अध्याय।

"मोक्षसंन्यास योग"

यह अठारहवाँध्यायगीताशास्त्रउपसंहार है।
अतएव यहाँतक जो विवेचन हुआ उसका सार है॥
इस स्थानपर सिंहावलोकन करें हम सुविचारिये।
औ "कर्मयोग" रहस्य पूरा ध्यानमें ले धारिये॥

स्फुट विदित पहला ध्यायसे निज धर्मके अनुसार था ।
रण प्राप्त उसको छोड़ अर्जुन भैक्ष्य हित तैयार था ॥
उसे अपने कर्तव्यमें फिर प्रवृत्त करनेके लिये ।
उपदेश गीताका किया है गया सारे जगलिये ॥
थी पार्थको शङ्का कि गुरुवध आदिकर्म सदोषको ।
हम करें तो भी नहीं होगा आत्महित तज दोषको ? ॥
अतएव स्वीकृत आत्मज्ञानी नरोंने भी हैं किये ।
जीवन बितानेके लिये दो-मार्ग उनको समझिये ॥
जो सांख्यपथ औ कर्मयोग हि मार्गका वर्णन किया ।
शुभ दूसरे अध्यायके प्रारंभमें ही है गया ॥
सिद्धान्त फिर यह अन्तमें जो किया है उसको लखो ।
कि यद्यपि ये श्रुति मार्ग दोनों मोक्ष देते हैं रखो ।
पर उभयमेंसे कर्मयोग हि अधिक श्रेयस्कर रहा ।
यह पांचवें अध्यायके है श्लोक दूजेमें कहा ॥
फिर तीसरे अध्यायसे ले पांचवें तकमें सही ।
उन युक्तियोंका किया वर्णन कर्मयोग विषे रही ॥
" समबुद्धिको ही श्रेष्ठ समझी सदा जाती है " तभी ।
उस बुद्धिके स्थिर सम हुए नहीं कर्मकी वाधा कभी ॥
जब छूटते नहीं किसीके भी कर्म इससे है उन्हें ।
तब छोड़ देनाभी उचित नहीं किसीको भी है इन्हें ॥
केवल फलाशा छोड़ देना यही काफी सुख लिये ।
अपने लिये है नहीं तो भी लोकसंग्रहके लिये ॥
है जरूरी निज-कर्म करना बुद्धिसम रखके सभी ।

हो बुद्धि उत्तम तो न होता ज्ञान कर्मविरोध भी ॥
और पूर्वपरंपरा देखी-जाय तो यह ज्ञात हो।
जनकादिने भी इसी पथका किया पालन ख्यात हो ॥
इस बातका फिर है विवेचन कर्म योग कि सिद्धिको।
जिस लिये समताकी जरूरत सदा होती बुद्धिको ॥
फिर प्राप्त करना चाहिये कस उसे औ इस योगका।
आचरण करतेहुए आखिर इसीसे भव रोगका ॥
सब नाश होकर मोक्ष कैसे प्राप्त होता सो कहा।
इस बुद्धिकी समता लिये नर विषय निग्रह कर रहा ॥
यह जानलेना जरूरी है सर्व जीवोंमें भरा।
एकही परमेश्वर हुआ है अन्य उनसे नहीं जरा ॥
अतएव इन्द्रियें निग्रहका विवेचन यों है किया।
अध्याय छठेमें बताया सातवेंसे फिर किया ॥
अध्याय सत्रह तक दिखाया "कर्म योगाचरणको"।
करते हुए परमातमाका ज्ञान कैसे शरणको ॥
हो प्राप्त, औ वह ज्ञान है क्या? स्पष्ट बतलाया उसे।
फिर सातवें औ आठवेंमें क्षराक्षर अथवा जिसे ॥
है व्यक्त या अव्यक्त कहते ज्ञान औ विज्ञानको।
स्फुट उन्हींका विवरण किया है गया हर अज्ञानको ॥
अध्याय नवमेंसे बताया बारवें तकमें यही।
कि यद्यपि परमातमाके उस व्यक्तसे अव्यक्त ही ॥
है श्रेष्ठ परम स्वरूप तो भी बुद्धिको डिगने कभी-।
देना न "ईश्वर एकही है" व्यक्त रूपादि सो सभी ॥

भक्त पुरुषोंको सुलभ अनुभव उपासनदें वही ।
" निज ज्ञान " इससे स्पष्ट होता सदा उत्तम है यही ॥
फिर तेरवें अध्यायमें है क्षेत्र औ क्षेत्रज्ञका ।
सुविचार सुन्दर किया गया कि-क्षराक्षर मय यज्ञका ॥
कहते जिसे अव्यक्त जगमें वही नर तनुमें रहा ।
है अन्तरात्मा, बाद इसके चौदवेंसे यह कहा ॥
अध्याय सत्रह तलक चारोंऽध्यायमें वर्णनकिया ।
उस क्षराक्षर विज्ञान भीतर विषय यह निर्णयकिया ॥
है एकही अव्यक्त प्रकृति रु गुणोंके कारण हुए ।
विश्वमें विविध स्वभावके नर उपजते कैसे गये ? ॥
या और विविध प्रकारका विस्तार कैसे होगया ।
यों ज्ञान औ विज्ञानका सब निरूपण पूरा किया ॥
श्रीकृष्ण प्रतिस्थल पार्थको उपदेश देते हैं यही ।
तूँ कर्म कर औ कर्मयोग प्रधान आयु विता सही ॥
है मार्ग सबमें श्रेष्ठ माना गया जिसमें नर सभी ।
हो शुद्ध अन्तःकरणसे ही भक्ति कर करते सभी ॥
" परमेश्वरार्पण सहित केवल धर्मके अनुसार है ।
कर्तव्य समझ रु मरण तक निज कर्म कर जग पार है " ॥
दे इसीका उपदेश ऐसे ज्ञान मूलक भक्तिको ।
सुप्रधान रखकर " कर्मयोग " हि विवेचन किय मुक्तिको ॥
फिर अठारहवेंऽध्यायमें उस धर्मको पूरण किया ।
औ युद्ध स्वेच्छा सहित करने पार्थको प्रवृत्त किया ॥

इस मार्गगीतामें न उसको गया कहिं भी यह कहा ।
" तूँ चतुर्थाश्रम मान कर संन्यासि हो जा; नहीं कहा "
यह अवश्य कहागया कि इसी योगसे जो नर करें ।
आचरण वह संन्यासि नित है द्वेष द्वंद्व न मन फुरे ॥
अतएव अर्जुनका रहा अब प्रश्न चौथाश्रममयी ।
स्त्री पुत्र पौत्रादिक प्रजासे काम क्या जग सुखमयी ॥
संन्यास लेकर कर्म सारे छोड़ देनेका कहीं ।
है तत्त्व भी इस " कर्मयोग " सुमार्गमें क्या या नहीं ? ॥
और यदि वह है नहीं तो संन्यास एवं त्यागका ।
क्या अर्थ है वह स्पष्ट मुझको बताओ गुणत्यागका ? ॥

" अर्जुनके पूछनेपर संन्यास और त्यागकी कर्मयोगमार्गके अन्तर्गत व्याख्यायें " १–२.

॥ अर्जुन उवाच ॥

संन्यासस्यमहाबाहोतत्त्वमिच्छामिवेदितुम् ॥
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

हे केशिसूदन ! महाबाहो ! हृषीकेश ! भगवन् ! प्रभो !
संन्यासका औ त्यागका क्या तत्त्व है उसको विभो ! ॥
मैं जानना चाहता पृथक हुँ पृथक मम समुझाइये ।
है त्याग औ संन्यासका क्या रूप सो बतलाइये ? ॥ १ ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

काम्यानांकर्मणां न्यासं संन्यासंकवयोविदुः ॥
सर्वकर्मफलत्यागंप्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥

हे पार्थ ! ज्ञानीगण समझते सकाम कर्मोंका करें।
जो त्याग सो संन्यास है औ सर्वकर्मोंके हरें ॥
फलोंको वह, संन्यास पण्डित लोग कहते त्याग है।
सब कर्म तजनेके बिना यहाँ त्याग औ संन्यास है ॥ २ ॥

"कर्मका त्याज्य, अत्याज्यविषयक-निर्णय; यज्ञ यागआदि कर्मोंको भी अन्यान्यकर्मोंके समान निःसङ्गबुद्धिसे करना ही चाहिये" ३-६.

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ॥
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

कुछ पण्डितोंका कथन है कि कर्म दोषसयुक्त है।
अतएव उसका सर्वथा ही त्याग देना युक्त है ॥
हैं क्योंकि जब सब कर्म दोषहि युक्त तब इससे उन्हें।
कुछ त्यागनेमें हानि नहीं पर दूसरे कहते इन्हें ॥
तप यज्ञ दान स्वरूप कर्म न त्यागनेके योग्य है—॥ ३ ॥

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ॥
त्यागोहिपुरुषव्याघ्रात्रिविधःसंप्रकीर्तितः ॥ ४ ॥

—हे पार्थ ! मम मत इस विषयमें सुनो निश्चित योग्य है।
यह त्याग तीन प्रकारका है पुरुष श्रेष्ठ ! कहा गया।
है त्याग सात्त्विक राजसिक औ तामसिक माना गया ॥४॥

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत ॥
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥

तप यज्ञ दान रु कर्मका कहीं त्याग होता है नहीं ।
ये सदा करने चाहिये तप—दान यज्ञोंसे सही ॥
धीमान मुनि भी शुद्ध चित हो मोक्ष देते ये सभी—॥ ५ ॥

एतान्यापितु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वाफलानि च ॥
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

—अतएव यज्ञ रु दान तप मय कर्म तजना नहीं कभी ।
औ छोड़कर आसक्ति फलकी कामना तज त्रय करो ।
हे पार्थ ! मम मत परम निश्चित कर्मको तुम मत हरो ॥ ६ ॥

" कर्मत्यागके तीन भेद—सात्त्विक, राजस और तामस. फलाशा छोड़कर कर्तव्य कर्म करनाही सात्त्विक त्याग है " ७–९.

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ॥
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसःपरिकीर्तितः ॥ ७ ॥

निज वर्ण आश्रम नियत कर्म हिं करो उचित न त्याग हैं ।
अविवेकसे त्यागे उसे कह तामसिक स्फुट त्याग है ॥ ७ ॥

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ॥
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥८॥

इस बीच होगा दुःख ऐसे कष्ट शारीरिक लिये ।
भयसे तजे जो कर्मको वह त्याग राजस जानिये ॥
इस त्यागद्वारा त्याग फलको नहीं पाता है उन्हें–॥ ८ ॥

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ॥
सङ्गंत्यक्त्वाफलंचैवसत्यागःसात्त्विकोमतः ॥ ९ ॥

–" सदा करना चाहिये " इस कर्तव्य बुद्धिसे इन्हें ।
आसक्ति सह फल कामनाको छोड़कर जाता किया ॥
वह " त्याग " सात्त्विक कहाजाता विहित वर्णाश्रम क्रिया॥९॥

" कर्मफलत्यागी ही सात्त्विक त्यागी है; क्योंकि कर्म तो किसीका भी छूट नहीं सकता" १०-११.

न द्वेष्टयकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ॥
त्यागीसत्त्वसमाविष्टोमेधावीछिन्नसंशयः ॥ १० ॥

जो किसी अकुशल कर्मका नहीं द्वेष करता है यथा ।
कल्याण कारक कर्ममें अनुषक्त[1] होता नहीं तथा ॥
है सत्वशील रु बुद्धिमत संदेह बिन " त्यागी " उसे ।
चाहिये संन्यासी कहना कर्म नहीं छोड़ा जिसे ॥ १० ॥

नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ॥
यस्तु कर्मफलत्यागीसत्यागीत्यभिधीयते ॥११॥

इकबारगी सब कर्मको इस देहधारी नर लिये ।
हैं त्याग देना कभी संभव, नहीं होता इसलिये ॥

---

१ इच्छापूर्वक विशेष या पूर्णरूपसे तत्पर होना या लगजाना ।

जो कर्मको नहीं छोड़ केवल कर्म फलको तज रहा।
है यही सच्चा पुरुष त्यागी वही संन्यासी कहा ॥ ११ ॥

"कर्मका त्रिविधफल सात्त्विक त्यागी पुरुषको बंधक नहीं होता" १२.

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ॥
भवत्यत्यागिनां प्रेत्यनतुसंन्यासिनांक्वचित् ॥१२॥

जो फलाकांक्षाको न तजता उसे मरणान्तरमिलें ।
निज इष्ट अनिष्ट मिश्र त्रयविध कर्मफल कबहु न टले ॥
है किन्तु संन्यासी उसे जो फलाशा तज कृत करें ।
मिलते न कुछ करते न बाधा उक्त फल तीनों अरे ॥ १२ ॥

"कोई भी कर्महोनेके पाँच कारण हैं, केवल मनुष्यही कारण नहीं है" १३--१९.

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ॥
सांख्येकृतांते प्रोक्तानिसिद्धयेसर्वकर्मणाम्॥ १३ ॥

हे महाबाहो ! सांख्यमें सब कर्म होनेके लिये ।
ये पाँच कारण कहे स्फुट हैं उन्हें मुझसे जानिये ॥ १३ ॥

अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम् ॥
विविधाश्चपृथक्चेष्टादैवंचैवात्र पञ्चमम् ॥ १४ ॥

जिस स्थान या आधारमें हो, कर्म वह "अधिष्ठान" है ।
जो कर्म करता वही "कर्त्ता" कहा कृत अनुष्ठान है ॥

जिन अलग अलग सु साधनोंसे कर्म जाते हैं किये ।
वे " करण " हैं सब कर्म सिद्धि कि हेतु जो अनुष्ठित हुए॥
हैं विविध विध व्यापार " चेष्टा " नामसे स्वाधीन है ।
औ पांचवाँ अदृष्ट है जो " दैव " के आधीन है॥१४॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ॥
न्याय्यंवाविपरीतंवापंचैतेतस्यहेतवः ॥ १५ ॥

नर देह, मन्न, वचसे करे जो बुरे, अच्छे कार्यको ।
ये पाँच कारण है उसीके समझ कर सब कायको ॥ १५ ॥

" अतएव यह अहंकार बुद्धि कि मैं करताहूँ छूटजानेसे कर्म करनेपर भी अलिप्त रहता है " १६-१७.

तत्रैवं सति कर्त्तारमात्मानं केवलं तु यः ॥
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यतिदुर्मतिः ॥ १६ ॥

है वस्तुतः यह बात फिरभीं असंस्कृत मतिको लिये ।
जो आत्मको ही देख कर्त्ता मन्दमति भ्रमको लिये ॥
है देखता नहीं ठीकसे वह, समझता कुछ भी नहीं--॥ १६ ॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ॥
हत्वापि स इमांल्लोकान्न हंति न निबध्यते ॥१७॥

--पार्थ ! जिसको " मैं करूँ हूँ " अहंकार ऐसा है नहीं ॥
और जिसकी समबुद्धि होती लिप्त कर्मोंमें नहीं ।
वह सर्वको यदि " मारडाले " अहो तो भी वध नहीं ॥

है किसीका करता न इससे कर्मका बंधन उसे।
होती न जगमें कभी भी निज कर्मसे अधगति जिसे॥ १७॥

"कर्म चोदना और कर्मसंग्रहका सांख्योक्त लक्षण और उनके तीन भेद" १८-१९.

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना॥
करणं कर्म कर्त्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः॥ १८॥

हैं ज्ञान ज्ञाता ज्ञेय तीनों हेतु कर्म प्रवृत्तिके।
हैं कर्म, कर्त्ता, करण कारण कर्म संग्रह वृत्तिके॥ १८॥

ज्ञानं कर्म च कर्त्ता च त्रिधैव गुणभेदतः॥
प्रोच्यतेगुणसंख्यानेयथावच्छृणुतान्यपि॥ १९॥

हे पार्थ! सांख्य सु शास्त्रमें गुण भेदसे कहते जिन्हें।
हैं त्रिविध ज्ञान रु कर्म कर्त्ता यथावत सुनले इन्हें॥ १९॥

"सात्त्विकगुणभेदसे ज्ञानके तीन भेद. 'अविभक्तं-विभक्तेषु" यह सात्त्विकज्ञान है" २०-२२.

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते॥
अविभक्तंविभक्तेषुतज्ज्ञानंविद्धिसात्त्विकम्॥ २०॥

जिस ज्ञान द्वारा भिन्न भिन्न हि सर्व भूतोंमे रहा।
इक अभिन्न अद्वितीय अव्यय भाव देखा जा रहा॥
जो एक अव्यय इस तरहसे प्रकट हो आता जिसे।
तुम ज्ञान "सात्त्विक" सुखद जानो तत्त्व वास्तव है उसे॥२०॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानंनानाभावान्पृथग्विधान् ॥
वेत्तिसर्वेषुभूतेषु तज्ज्ञानंविद्धिराजसम् ॥ २१ ॥

जिस ज्ञानसे सब प्राणियोंमें पृथकपन रु अनेक हैं ।
बहु भाव आते देखनेमें राजासिक स विवेक है ॥ २१ ॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ॥
अतत्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

औ ज्ञान एकहि विषयमें जो मान सब आसक्त है ।
बिन हेतु तत्त्वपदार्थसे हैं शून्य तुच्छ न युक्ति है ॥
उस ज्ञानको कहते जगत्में तामसिक दुख मूल है ।
"जो एकहीमें देख सब कुछ भयङ्कर यह भूल है !"॥२२॥

"कर्मकी त्रिविधता फलाशारहितकर्म सात्त्विक है" २३--२९.

नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम् ॥
अफलप्रेप्सुनाकर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

फलाकांक्षा रहित नर आसक्ति राग रु द्वेषको-।
जो छोड़कर निज धर्मके अनुसार लें आदेशको ॥
जिस कर्मको करता नियत है "कर्म सात्विक" कह उसे-॥२३

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वाः पुनः ॥
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

पर जो सकामस्व कर्म हो फिर अहंकारी पुरुषसे ।
सु विशेष परिश्रमसे अनुष्ठित उसे राजस जानिये-॥ २४ ॥

अनुबंधं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम् ॥
मोहादरभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥

—भावी फलाफल शक्तिनाश रु जीवनाश न देखिये।
सामर्थ्यका न विचार करके मोहसे केवल करे।
जिस कर्मका आरंभ उसको तामसिक कहते अरे ॥ २५ ॥

"कर्त्ताके तीन भेद; निःसंगकर्त्ता सात्त्विक है" २६--२८.

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमान्वितः ॥
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारःकर्त्तासात्त्विकउच्यते २६

आशक्ति औ अहंभाव बिन है युक्त धैर्योत्साहसे।
है सफलता या विफलतामें एकरस सोत्साहसे ॥
फिर हर्ष और विषादसे है शून्य कहलाता वही।
पार्थ ! सात्त्विक आदर्श करता कर्ममें बन्धता नहीं ॥ २६ ॥

रागीकर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धोहिंसात्मकोऽशुचिः ॥
हर्षशोकान्वितःकर्त्ता राजसः परिकीर्तितः॥२७॥

हे पार्थ ! विषयासक्त लोभी कर्मफलकामी रहा।
हिंसकस्वभाव सदैव शुचिता—शून्य होकर जो रहा ॥
है सिद्धि और असिद्धिमें नित हर्ष खेद युक्त वही।
नर राजसिक कर्त्ता कहाता अहंता ममता रही ॥ २७ ॥

अयुक्तःप्राकृतःस्तब्धःशठोनैष्कृतिकोऽलसः ॥
विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्तातामस उच्यते ॥२८॥

जो पार्थ ! चञ्चल मति असभ्य अनम्र ठग जगमें रहा ।
पर हानि कर्त्ता हीन-उद्यम विषादग्रस्त हि नित कहा ॥
है दीर्घसूत्री मनहुँ थोड़ी देरका जो काम है ।
नर उसे घंटोंमें करें वह तामसिक कर्त्ता कहै ॥ २८ ॥

" बुद्धिके तीन भेद;--यथार्थ निर्णय करने-वाली सात्त्विक बुद्धि है " २९--३२.

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ॥
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥ २९ ॥

हे अनघ ! निजमति और धृतिके त्रिविध गुणके भेदको ।
अलग अलग विस्तारसे सब कहूं सुन तज खेदको ॥ २९ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ॥
बंधं मोक्षंचयावेत्तिबुद्धिः सापार्थसात्त्विकी ॥३०॥

हे पार्थ ! प्रवृत्ति और निवृत्ति कार्य और अकार्यको ।
भय अभय बंधन और मुक्ति रहस्यके निज कार्यको ॥
है जानती सब बुद्धि सम्यक " सात्त्विकी " कहते उसे ।
जो आतमाकी जलकसे युत स्पष्ट निर्णय कर जिसे ॥ ३० ॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ॥
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिःसापार्थराजसी ॥ ३१ ॥

जो धर्म और अधर्मको कर्तव्य बिन-कर्तव्यको ।
जिस बुद्धि द्वारा वस्तुतः हैं जानते नहीं दिव्यको ॥

उस बुद्धिको कह राजसी है पूर्णरूप न जानती ।
जो यथा निशिमें वस्तुवर्ण न स्पष्ट बुद्धि पिछानती ॥ ३१ ॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ॥
सर्वार्थान्विपरीतांश्चबुद्धिःसापार्थतामसी ॥ ३२ ॥

जोऽधर्मको ही धर्म समझे सर्वविषयोंमें मती ।
हे पार्थ ! उलटी समझ हो वह तामसिक मतिकी गती ॥३२॥

" धृतिके तीन भेद; योगकी सहायतासे असत्सङ्कल्प, प्राण तथा इन्द्रियोंके चाञ्चल्यको रोकनेका नाम सात्त्विक धृति है " ३३–३५.

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेंद्रियक्रियाः ॥
योगेनाऽव्यभिचारिण्याधृतिःसापार्थ सात्त्विकी३३

अर्जुन ! समाहित चित्तसे जिस अचल धृति द्वारा धरें ।
मन प्राण गो व्यापारको वश कुपथसे रोके खरे ? ॥
औ योगके सहयोगसे सब कुचेष्टाएँ लीन हो ।
वह " सात्त्विकी धृति है " सुखारी पुरुष धरत न दीन हो३३

यया तु धर्मकामार्थान् धृत्याधारयतेऽर्जुन ॥
प्रसंगेनफलाकांक्षीधृतिः सा पार्थ राजसी॥ ३४ ॥

सु प्रसङ्गके अनुसार फलकी पुरुष इच्छा राखता ।
निज धर्म, अर्थ रु कामको हैं पार्थ जिससे साधता ॥

औ सिद्ध करलेता उन्हें जो धैर्य मानससे वही ।
है राजसी धृति फलाकांक्षी-मानसिक स्थिरता नहीं ॥ ३४ ॥

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ॥
नविमुंचातिदुर्मेधाधृतिःसापार्थतामसी ॥ ३५ ॥

हे पार्थ ! जिस धृतिसे पुरुष दुर्बुद्धि होकरके अरे ।
भय शोक नींद विषाद मदको छोड़ता नहीं दृढ धरें ॥
यह तामसिक निश्चय निरा है अर्थ धृतिका जानिये ।
आलस्य निद्रा आदिको धर उसे तामस मानिये ॥ ३५ ॥

"सुखके तीन भेद । आत्म-बुद्धि प्रसादज-सुख सात्त्विक सुख है" ३६-३९.

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ॥
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखांतंचनिगच्छति ॥ ३६ ॥

अब पार्थ ! मुझसे सुनो सुखके त्रिविध लक्षण है उन्हें ।
अभ्यास वारम्वारसे हो प्रेम जिस सुखमें जिन्हें ॥ ३६ ॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ॥
तत्सुखंसात्त्विकंप्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७ ॥

सब दुखोंकी आत्यन्तिकी हो निवृत्ति जिसमें अरे ।
है प्रथम विषकी तुल्य हो फिर शेष अमृत सम खरे ॥
जो आत्मबुद्धिप्रसादसे उत्पन्न होता सुख उसे ।
है कहाजाता "सात्त्विकी सुख" स्वात्म सम्बन्धसे जिसे ॥ ३७ ॥

विषयेंद्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ॥
परिणामे विषमिवतत्सुखंराजसंस्मृतम् ॥ ३८ ॥

सुख विषयके संयोगसे जो, प्रथम अमृततुल्य है ।
परिणाममें विषतुल्य है वह राजासिक-सुख मूल्य है ॥ ३८ ॥

यदग्रे चानुबंधे च सुखं मोहनमात्मनः ॥
निद्रालस्यप्रमादोत्थंतत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

आरंभ औ परिणाममें सुख फंसाता जो मोहमें ।
निज आत्मको हे पार्थ ! उसको लखो निद्रा कोहमें ॥
आलस्य और प्रमादसे हो प्रकट जगमें सुख वही ।
है कहाजाता तामासिक सुख आत्म अनुभव है नहीं ॥ ३९ ॥

" गुणभेदसे सारे जगत्के तीन भेद हैं " ४०

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ॥
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥४०॥

भू, स्वर्ग लोक न सुरोंमें है जीव ऐसा एक भी ।
जो प्रकृतिके इन त्रय गुणोंसे मुक्त हो रहता कभी ॥ ४० ॥

" गुणभेदसे चातुर्वर्ण्यकी उपपत्ति. ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके स्वभाव-जन्य कर्म " ४१-४४.

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ॥
कर्माणि प्रविभक्तानिस्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ४१ ॥

हे पार्थ ! ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य रु शूद्रकर्महि जानिये ।
निज प्रकृति सिद्ध गुणानुसार विभक्त पृथक् हि मानिये॥४१॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षांतिरार्जवमेव च ॥
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥४२॥

गो भीतरीको रोकना शम बाहरी वश दम कहैं।
है तपस्या शुचिता क्षमाऽर्जव ज्ञान अनुभव स्फुट रहैं॥
आस्तिक्य है निजभावजन्य स्वकर्म ब्राह्मणके यही।
उत्पन्न सत्त्वप्रधान द्विजके धर्म नव हैं सहज ही॥ ४२॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धेचाप्यपलायनम् ॥
दानमीश्वरभावश्चक्षात्रं कर्मस्वभावजम् ॥

है शूरता तेजस्विता धृति दक्षता रणमें कभी।
है बताना निज पीठको नहीं दान प्रभुता ये सभी॥
उत्पन्न क्षत्रिय स्वभावसे रज–सत्त्वप्रधान कर्म ये।
हे पार्थ! स्वाभाविक रहैं गुण–सप्त क्षत्रियधर्म ये॥ ४३॥

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम ॥
परिचर्यात्मकंकर्मशूद्रस्यापिस्वभावजम् ॥ ४४॥

गोरक्ष कृषि वाणिज्य तीनों वैश्यके निज कर्म हैं।
उत्पन्न वैश्य स्वभावसे रज–तम प्रधान स्वधर्म हैं॥
है शूद्रका इक कर्मसेवा वर्णत्रयकी जानिये।
उत्पन्न शूद्र स्वभावसे हैं तम प्रधानहि मानिये॥ ४४॥

"चातुर्वर्ण्य–विहित स्वकर्माचरणसे ही अन्तिमसिद्धि अर्थात् परमपद या मोक्षकी प्राप्ति है" ४५–४६.

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ॥
स्वकर्मनिरतः सिद्धिंयथाविंदतितच्छृणु ॥ ४५ ॥

निज निज स्वभाविककर्ममें रत पुरुष पाते मोक्षको ।
निजकर्मरतको मिले कैसे सिद्धि सुन हर दोषको ॥ ४५ ॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ॥
स्वकर्मणातमभ्यर्च्यसिद्धिंविंदतिमानवः ॥ ४६ ॥

उत्पत्ति सारे प्राणियोंकी हुई जिस परमात्मसे ।
हैं और जिसने व्याप्त रक्खा अखिल जगको स्वात्मसे ॥
कर्तव्य पालन-पुष्पसे उस ईशकी पूजन करे ।
वह पुरुष पाता मोक्षको है सर्व दुख सङ्कट टरे ॥ ४६ ॥

"परधर्म भयावह है, स्वधर्म सदोष होनेपर भी अत्याज्य है; अतएव सारे कर्म स्वधर्मके अनुसार निःसङ्गबुद्धिके द्वारा करनेसे ही नैष्कर्म्यसिद्धि (मोक्ष) मिलती है" ४७-४९.

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ॥
स्वभावानियतं कर्मकुर्वन्नाप्नोतिकिल्बिषम् ॥ ४७॥

हे पार्थ ! उत्तम रीतिद्वारा अनुष्ठित परधर्मसे ।
गुणरहित भी है धर्म अपना श्रेष्ठ हितप्रद कर्मसे ॥
हैं क्योंकि स्वाभाविक नियत निज धर्मरूपीकर्मको ।
करताहुआ नर पापको हर प्राप्त होता धर्मको ॥ ४७ ॥

सहजं कर्म कौंतेय सदोषमपि न त्यजेत् ॥
सर्वारंभाहिदोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ ४८ ॥

अतएव अर्जुन ! दोषयुत भी कर्म स्वाभाविक कभी ।
त्यागना नहीं चाहिये, कर कर्म स्वाभाविक सभी ॥
उद्योग सब हैं दोष आवृत धूमसे पावक यथा ।
आरंभ सब हैं दोषसम्पन पार्थ ! जानो तुम तथा ॥ ४८॥

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ॥
नैष्कर्म्यसिद्धिंपरमांसंन्यासेनाधिगच्छाति ॥ ४९ ॥

इसलिये रख मत कहीं भी आसक्ति मनको मारिये ।
होकर स्पृहासे शून्य सात्त्विक त्यागसे पा जाईये ॥
परमपद जो नैष्कर्म्यसिद्धि स्व-धर्मको अनुभव करे ।
वह "कर्मयोगी" कर्मसे यों ब्रह्मका दर्शन करें ॥ ४९ ॥

"इस बातका निरूपण कि सारे कर्म करते रहनेसे भी सिद्धि—मोक्ष किस प्रकार मिलती है" ५०-५६.

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोधमे ॥
समासेनैवकौंतेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ ५० ॥

हे पार्थ ! लें नैष्कर्म्य सिद्धि हि ब्रह्मको योगी यथा ।
पाते उसे संक्षेपसे सुन ज्ञान निष्ठा पर कथा ॥ ५० ॥

बुद्ध्याविशुद्धयायुक्तोधृत्यात्मानंनियम्य च ॥
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वारागद्वेषौव्युदस्यच ५१॥

जो शुद्धबुद्धिवियुक्त हो कर मनोनिग्रहधैर्यसे ।
शब्दादि इन्द्रिय विषयगणको त्यागकर निजसौर्यसे ॥
औ राग द्वेष कुद्वंद्वभाव हिं नष्ट करता है सही--॥ ५१ ॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ॥
ध्यानयोगपरोनित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥

--एकान्तसेवी मिताहारी विजय मन क्रम वच गहीं ।
जग आत्मचिन्तन परायण नर, परम वैरागी एही--॥ ५२ ॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ॥
विमुच्य निर्ममःशांतोब्रह्मभूयायकल्पते ॥ ५३ ॥

--जो दुराग्रह अभिमान परिग्रह, दर्प कोप रु काम ही ।
सब छोड ममता हीन होता शान्त योगी है वही ॥
परब्रह्म भावहिं लाभके है योग्य होजाता यहीं ॥ ५३ ॥

ब्रह्मभूतःप्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ॥
समःसर्वेषुभूतेषुमद्भक्तिं लभते पराम् ॥ ५४ ॥

है ब्रह्मभूत प्रसन्नआत्मा शोक हर योगी विषे ।
है स्पृहा कुछ भी नहीं करता सर्वजीवोंके विषे ॥
समभाव रखता हुआ मेरी परा भक्ति हि नित गहैं--॥ ५४ ॥

भक्त्यामामभिजानातियावान्यश्चास्मितत्त्वतः ।
ततोमांतत्त्वतोज्ञात्वा विशते तदनंतरम् ॥ ५५ ॥

—वह भक्त मुझको भक्तिसे मैं कौन हूं कितना कहे ? ।
इस तत्त्वके विज्ञानको है प्राप्त करलेता यहीं ।
औ तत्त्वसे वह जान मुझको लीन मुझमें हो सही ॥ ५५ ॥

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ॥
मत्प्रसादादवाप्नोतिशाश्वतंपदमव्ययम् ॥ ५६ ॥

निज-वर्ण आश्रमतुल्य नर कर्तव्यको करते रहैं ।
लें शरण मेरी मम कृपासे नित्य अव्ययपद गहैं ॥ ५६ ॥

" इसी मार्गको स्वीकार करनेके विषयमें अर्जुनको उपदेश " ५७-५८.

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ॥
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ ५७ ॥

अतएव मुझमें चित्तदे कर समर्पण सब कर्मको ।
मुझ परायण समबुद्धि योगहिं सतत आश्रय धर्मको ॥
ले, पार्थ ! मुझमें ही रखो चित मुक्त होवोगे सही ।
सन्देह इसमें जरा लाना चाहिये तुमको नहीं ॥ ५७ ॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ॥
अथचेत्त्वमहंकारान्नश्रोष्यासिविनंक्ष्यासि ॥ ५८ ॥

हे पार्थ ! मुझमें मनलगाकर मम कृपासे तुम सभी ।
इन असुविधाओंको तरोगे मोह नहीं होगा कभी ॥
पर जो यदि अहंकारसे मम बात सुनते हो नहीं ।
तो नष्ट होओगे अतः यह मान लो मेरी कही ॥ ५८ ॥

"प्रकृतिधर्मके सामने अहंकारकी एक नहीं चलती। ईश्वरकी ही शरणमें जाना चाहिये। अर्जुनको यह उपदेश कि इस गुह्यको समझकर फिर "जो दिलमें आवे सो कर" ५९–६३.

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे॥
मिथ्यैषव्यवसायस्तेप्रकृतिस्त्वांनियोक्ष्यति॥५९॥

हो क्योंकि तुम अहँकारसे ही "लडूंगा नहिं" मानते।
यह व्यर्थ है निश्चय तुम्हारा प्रकृतिको नहिं जानते॥
वह काम तुमसे करावेगी करोगे अनिवार्य हो–॥५९॥

स्वभावजेन कौंतेय निबद्धः स्वेन कर्मणा॥
कर्तुंनेच्छसियन्मोहात्करिष्यस्यवशोपितत्॥६०॥

–कौन्तेय! जो तुम मोहसे करना न चाहते कार्य हो।
करना पड़ेगा तुम्हीको फिर विवश होकरके उसे।
तुम क्षात्र स्वभावजन्य अपने कर्मसे बद्ध हो जिसे॥६०॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति॥
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानिमायया॥६१॥

हे पार्थ ! तनुमय यन्त्रपर आरूढ हो ईश्वर सभी ।
इन प्राणियोंको योगमायासे घुमाता है सभी ॥
जीवगणके हृदयमें स्थित अचल हैं साकारसे-॥६१ ॥

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ॥
तत्प्रसादात्परांशांतिंस्थानंप्राप्स्यसिशाश्वतम् ६२

-अतएव जगमें उन्हींकी लो शरण सर्व प्रकारसे ॥
औ उन्हींकी अनुपम कृपासे प्राप्त होगा प्रिय तुम्हें ।
वह परमपद सुखशान्ति परमा सहजमें अर्जुन ! तुम्हें ॥६२ ॥

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ॥
विमृश्य तदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥

अति गुह्य रहस्य कहा मैंने मोह इससे तुम हरो ।
सु विचार करके इसीका फिर यथा रुचि हो सो करो॥६३॥

"भगवान्‌का यह अन्तिम आश्वासन कि सब धर्म छोड़कर "मेरी शरणमें आ" सब पापोंसे मैं तुझे मुक्त करदूंगा" ६४-६६.

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ॥
इष्टोऽसिमेदृढमतिस्ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥६४॥

अब बात मेरी एक सबसे गुह्य उत्तम है सुनो ।
अत्यन्त प्रिय तुम हो इसीसे कहूंगा हितकी चुनो ॥ ६४ ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ॥
मामेवैष्यसि सत्य ते प्रतिजानेप्रियोऽसिमे ॥६५॥

हे पार्थ मेरेमें रखो मन, भक्त मेरे बन रहो।
औ भक्तिश्रद्धा नियमसे तुम नित्य तन्मय हो रहो ॥
कर वन्दना पूजन हमारी मिलोगे इनसे मुझे ।
हूं प्रतिज्ञा कर सत्य कहता सखे ! तुम अति प्रिय मुझे ॥६५॥

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ॥
अहंत्वासर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुचः॥६६॥

सब धर्मको तुम छोड़ केवल, शरण लो मेरी मुदा ।
हे पार्थ ! तुमको सर्व अघसे मुक्त कर दूंगा सदा ॥ ६६ ॥

" कर्मयोगमार्गकी परम्पराको आगे प्रचलित-रखनेका श्रेय " ६७-६९.

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ॥
नचाशुश्रूषवेवाच्यंनचमांयोभ्यसूयति ॥ ६७ ॥

यह शास्त्र तपसे हीन जनको कभी भी कहना नहीं ।
मम भक्ति हीन रु श्रवण इच्छा उसे भी कहना नहीं ॥
और मेरी निन्दा करे उस व्यक्तिको गीता कभी ।
अर्जुन ! सुनाना चाहिये नहीं भक्ति विन मह हो तभी॥६७॥

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ॥
भक्तिंमयिपरांकृत्वामामेवैष्यत्यसंशयः ॥ ६८ ॥

पार्थ ! मेरे भक्तगणमें इस परम गुह्य स्वतत्त्वको।
जो करेगा बिस्तार वह मम पराभक्तिस्व तत्त्वको ॥
जग प्राप्त करके मिलेगा फिर मुझेही होकर मुदा।
सन्देह इसमें नहीं किञ्चित अतः यों करना सदा ॥ ६८ ॥

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृतमः ॥
भविता नचमे तस्मादन्यः प्रियतरोभुवि ॥ ६९ ॥

मम अधिक प्रियकारी उसीसे मनुष्योंमें नहीं कहीं।
होगा न फिर संसारमें मम अधिक प्रिय उससे सहीं ॥ ६९ ॥

"उसका अर्थात् "कर्मयोग" का फल माहात्म्य" ७०-७१.

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ॥
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७०॥

हम उभयके इस धर्ममय सम्वादको कोई सदा।
जो पढेगा, उसने हमारी ज्ञानयगसे हो मुदा।
"पूजन करी है दिव्य अनुपम" यही समझूंगा उसे-॥७०॥

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ॥
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोका-
न्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥ ७१ ॥

-इस तरह श्रद्धावान हो जो दोष दृष्टि हि हर इसे।
नर सुनेगा सादर समाहित चित्तसे उसके सभी ॥
हो पापक्षय शुभकार्मियोंके लोक पावेंगे सभी ॥ ७१ ॥

" कर्तव्य, मोह नष्ट होकर अर्जुनकी युद्ध करनेके लिये तैयारी " ७२-७३.

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ॥
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥ ७२ ॥

क्या पार्थ ! तुमने एकचित्तसे सुना यह सब या नहीं ? ।
और तेरा हे धनञ्जय ! अज्ञानप्रद तमका यहीं ।
क्या हो चुका है नाश या फिर श्रवणकी इच्छा रही ॥
मुझको बताओ स्पष्ट बोलो मोह बिन हो या नहीं ॥ ७२ ॥

॥ अर्जुन उवाच ॥

नष्टोमोहःस्मृतिर्लब्धात्वत्प्रसादान्मयाच्युत ॥
स्थितोऽस्मिगतसंदेहःकरिष्येवचनंतव ॥ ७३ ॥

हे कृष्ण ! अच्युत ! तव कृपासे मोह मम जाता रहा ।
कर्तव्यकी स्मृति प्राप्त होगई धर्म मालूम हो रहा ॥
सन्देह बिन अब मैं खडा हूं स्वस्थ हो इससे विभो ! ।
मैं तुम्हारे उपदेश माफिक करूंगा रणको प्रभो ! ॥ ७३ ॥

" धृतराष्ट्रको यह कथा सुना चुकनेपर सञ्जयकृत उपसंहार " ७४-७८.

संजय उवाच ॥

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ॥
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥

इस तरह राजन् ! वासुदेव रु महात्मा अर्जुन विषे।
अद्भुत सुना सम्वाद मैंने रोमहर्षण था जिसे ॥ ७४ ॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ॥
योगंयोगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतःस्वयम् ॥७५॥

गुरु व्यास अनुग्रहसे सुना हूं परम गुह्य सुयोगको।
साक्षात योगेश्वर स्वयं श्री, कृष्ण मुखसे योगको ॥ ७५ ॥

राजन्संस्मृत्यसंस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ॥
केशवार्जुनयोः पुण्यंहृष्यामिचमुहुर्मुहुः ॥ ७६ ॥

श्रीकृष्ण अर्जुन विषे राजन् ! पुण्यमय अद्भुत हुआ।
सम्वादको फिर फिर स्मरणकर हृष्ट पुनि पुनिमैं हुआ ॥७६॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ॥
विस्मयोमेमहान्राजन्हृष्यामिचपुनः पुनः ॥ ७७ ॥

महाराज ! हरिके उसी अद्भुत रूपको सुमिरण किये।
हो बार बार महान विस्मय हर्ष बहुवारहि हिये ॥ ७७ ॥

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ॥
तत्र श्रीर्विजयोभूतिर्ध्रुवानीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो
नाम अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

अतएव राजन् ! जहांपर श्रीकृष्ण योगेश्वर रहैं।
गाण्डीवधारी वीर अर्जुन वहीं अचला श्री रहैं ॥

औ विजय भूति रु नीति स्थित नित सर्वसाधिनी हैं वही ।
रह अटल " बदरी " सफल कृतकर, स्पष्ट मम मत है यही ७८

(१८)

इसतरह श्रीभगवानके उपनिषदमें गायेहुए ।
इस योगशास्त्रप्रबोधविषयक ब्रह्मविद्यामें हुए ॥
श्रीकृष्ण अर्जुनवादमें यह पूर्ण अन्तिम ध्याय हैं ।
जो " मोक्षसंन्यासयोग " सुनते पढे सो सुखपाय है ॥
इस ग्रन्थको शर सिद्धि ग्रह शशि, वर्षमें छन्दों विषे ।
भृगु पौष शुक्ला प्रतिप्रदाको रचा मोहमयिके विषे ॥

ॐ तत्सदिति पुष्करणा वंशावतंस शाण्डिल्यगोत्र ज्योतिर्विद् पण्डित कालूरामात्मजेन पुरोहित बदरीदासशर्मणा विरचितं हिन्दीपद्यमयं श्रीमद्भगवद्गीतार्थप्रबोधे "मोक्षसंन्यासयोगो" नाम अष्टादशोऽध्यायः संपूर्णम् ॥१८॥

ॐ तत्सत् ।



शुद्धाऽशुद्धिपत्र ।

अशुद्धशब्द.	शुद्धशब्द.	पृष्ठ	श्लोक.
एका	एकाग्र	१	ध्यान० १
नप	नृप	२	५
सानर्थ्यकी	सामर्थ्यकी	२५	३६
हा	हो	३३	६२
हे पाथ !	हे पार्थ !	४१	८
है	हैं	४३	१३
दानषु	दानेषु	१२०	२८
हो	अहो	१२३	५
देवगणम	देवगणमें	१४०	२२
रह	रहैं	१४२	३४
विस्तात	विस्तार	१४३	४०
नेत्र	नेत्रं	१५२	२३
फलेहुए	फैलेहुए	१५३	२४
लोकन्	लोकान्	१५६	३२
भक्तसहज	भक्तसह	१७१	१२
व्यथ	व्यर्थ	२०७	२
दवी	दैवी	२०८	६
शरता	शूरता	२३९	४३

नोट—पुस्तकको बहुत ध्यानसे देखकर संशोधन किया गया फिर भी कहीं २ अशुद्धियें रहगयीं हैं उन्हें सुधारकर पढनेके लिये ही यह शुद्धाऽशुद्धिपत्र देदिया है । प्रकाशक ।